

## इकाई-१

## शरीर, इन्द्रिय : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार

### इकाई की रूपरेखा

- १.० उद्देश्य
- १.१ प्रस्तावना
- १.२ जीवन विज्ञान : स्वरूप
- १.३ मनोविज्ञान : स्वरूप
- १.४ शरीर : मनोवैज्ञानिक आधार
- १.५ शरीर : आध्यात्मिक आधार
  - १.५.१ शरीर : अर्थ
  - १.५.२ शरीर : प्रकार
  - १.५.३ शरीर : महत्त्व
  - १.५.४ शरीर शुद्धि की प्रक्रिया
- १.६ इन्द्रिय : मनोवैज्ञानिक आधार
  - १.६.१ संवेदन : अर्थ
  - १.६.२ संवेदन : प्रकार
  - १.६.३ प्रत्यक्षण : अर्थ
  - १.६.४ प्रत्यक्षण को प्रभावित करने वाले कारक
- १.७ इन्द्रिय : आध्यात्मिक आधार
  - १.७.१ इन्द्रिय : स्वरूप
  - १.७.२ इन्द्रिय : प्रकार
  - १.७.३ इन्द्रिय क्षमता के विकास के लिए आवश्यक उपाय

### १.० उद्देश्य

‘शरीर, इन्द्रिय : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार’ इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- \* मनोविज्ञान क्या है? समझ सकेंगे।
- \* जीवन विज्ञान के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- \* शरीर की मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- \* इन्द्रियों की मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- \* इन्द्रिय क्षमता के विकास के लिए आवश्यक उपायों को जान सकेंगे।

### १.१ प्रस्तावना

जीवन के मुख्य सात घटक हैं। उनमें से पहला घटक है – शरीर। जीवन को स्वस्थ एवं संतुलित बनाने के लिए शरीर को समझना तथा उसकी शुद्धि हेतु प्रयास करना आवश्यक है। अतः प्रस्तुत इकाई में शरीर के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अवधारणा को प्रस्तुत किया जा रहा है।

शरीर के साथ-साथ प्रस्तुत इकाई में इन्द्रियों के सन्दर्भ में भी विस्तार से विवेचन किया जाएगा क्योंकि इन्द्रियाँ भी शरीर की ही घटक हैं। शरीर से भिन्न इन्द्रियों का कोई अस्तित्व नहीं है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए इन्द्रियों को स्वस्थ रखना जरूरी है। अतः इन्द्रिय क्या है? इन्द्रियों के कितने प्रकार हैं? इन्द्रियों के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने क्या विचार व्यक्त किये हैं? इन्द्रियों के सन्दर्भ में अध्यात्म क्या कहता है? तथा इन्द्रिय क्षमता के विकास के लिए जीवन-विज्ञान में कौन-से उपाय निर्दिष्ट हैं? आदि बातों की जानकारी प्रस्तुत इकाई में दी जाएगी।

## १.२ जीवन विज्ञान : स्वरूप

### १.२.१ जीवन विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास

भारत आजादी से पूर्व शत्रुओं के आक्रमण, देश की गुलामी, प्राचीन साहित्य एवं भाषा से दूरी के परिणामस्वरूप भारतवासियों का अपनी संस्कृति से अपरिचय तथा जीवन के उन्नत मूल्यों से दूरी बढ़ती गई। असहिष्णुता, सह-अस्तित्व, सौहार्द एवं प्रेम की जगह असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता और विद्वेष ने अपना स्थान बनाया। समाज में जीवन मूल्यों के प्रति भारी गिरावट आई।

शताब्दियों की परतन्त्रता के बाद १५ अगस्त, १९४७ को भारत आजाद हुआ। हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़के। लाखों लोग मारे गये। हिन्दुस्तान विभक्त हो गया। यहां लोकतांत्रिक प्रणाली तो विकसित हुई पर जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, अप्रामाणिकता, अनुशासनहीनता, पद की लालसा, अनुचित महत्त्वाकांक्षाएँ भी बढ़ती गईं। इन समस्याओं से चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो रहा था।

### अणुव्रत आन्दोलन : प्रथम चरण

तात्कालीन राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों ने महामना, उदारचेता, कोमल हृदय आचार्य तुलसी की चेतना को झंकृत किया। समस्या के समाधान में आपका विचार बना कि देश में असली आजादी तभी आ सकती है, जब चारित्रिक-नैतिक उत्थान हो, इसी उदात्त भावना, चिंतन-मनन एवं प्रबल पुरुषार्थ का परिणाम बना-अणुव्रत आंदोलन। यह आंदोलन २ मार्च, १९४९ को हुआ तथा जीवन-मूल्यों के विकास में पहला प्रस्थान बना। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी ने जन-जन तक नैतिकता की आवाज बुलन्द की। लगभग ६० हजार किलोमीटर की पदयात्रा पूरे भारतवर्ष में की। लाखों लोगों से सम्पर्क साधा। ग्रामीण की झोंपड़ी से लेकर संसद भवन तक अपने विचार पहुँचाये। जीवन-मूल्यों के विकास में अहर्निश अथक प्रयत्न किये। इस प्रकार स्वतन्त्रता के बाद अणुव्रत आन्दोलन, जीवन-मूल्यों के विकास का पहला चरण और एक नई घटना है।

### प्रेक्षाध्यान : दूसरा चरण

अणुव्रत आंदोलन का मुख्य आधार रहा-व्यक्ति की संकल्प-शक्ति का जागरण। बहुत सारे व्यक्ति अणुव्रत के नियमों को स्वीकार करते। कुछ लोग प्रतिकूल परिस्थितियों में और अधिक दृढ़ बन जाते किन्तु कुछ लोग चाह कर भी उस परिस्थिति में अडिग नहीं रह पाते। तब ऐसा अनुभव हुआ कि ऐसे लोगों की संकल्पशक्ति के विकास के लिए प्रायोगिक प्रक्रिया भी जुड़े। अणुव्रत-आचारसंहिता के सैद्धान्तिक उपक्रम के साथ-साथ प्रायोगिक प्रक्रिया के रूप में प्रेक्षाध्यान के प्रयोग विकल्प के रूप में सामने आये।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी से प्रेरणा पाकर युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्य महाप्रज्ञ) ने सन् १९६२ में ध्यान के प्रयोग प्रारम्भ किये। तेरह वर्ष तक निरन्तर दीर्घकालीन अनुसंधान व अन्वेषण से प्रेक्षाध्यान प्रयोग पद्धति समाज के सामने प्रस्तुत की गई। इसका नामकरण सन् १९७५, जयपुर में हुआ। सन् १९७७ में इसके विधिवत् शिविर प्रारम्भ हुए।

प्रेक्षाध्यान का यह सिद्धान्त है कि "दृष्टिकोण बदल सकता है"। आदत, स्वभाव और व्यवहार में परिवर्तन हो सकता है। यह तथ्य शिविर काल में और अधिक स्पष्टता से उजागर और प्रमाणित हुआ। वृत्तियों को बदलने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय निर्दिष्ट किये गए। अनेक व्यक्तियों ने प्रयोग किये। अच्छे परिणाम आये। यह क्रम पहले शिक्षा के साथ नहीं जुड़ा था, जन-सामान्य के साथ जुड़ा था। उसमें सफलता मिली और ऐसा लगा कि क्या इसका प्रयोग शिक्षा में नहीं हो सकता? विद्यार्थी को नहीं बदला जा सकता? समाधान मिला कि बड़े आदमी को बदलने की अपेक्षा छोटे बालकों को बदलना आसान है। चिंतन-मंथन चलते चलते इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों को जोड़ना चाहिए। फलस्वरूप अणुव्रत के सिद्धान्तों, प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से युक्त एक पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया और उसे शिक्षा के साथ जोड़ा गया। इसी पाठ्यक्रम को नाम दिया गया-जीवन विज्ञान।

### १.२.२ जीवन विज्ञान : नामकरण

वस्तुतः जीवन विज्ञान नामकरण से पूर्व इस सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति को क्या नाम दिया जाए इस विषय पर

बहुत चिन्तन चला। नाम की चर्चा और चिन्तन में अनेक नाम सामने आये—योग शिक्षा, नैतिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, मूल्यपरक शिक्षा आदि। अनेक दृष्टियों से विचार हुआ परन्तु सभी नाम किसी न किसी कारण से अनुपयुक्त रहे।

## योग शिक्षा

अनेक शिक्षा आयोगों का अभिमत रहा कि इस शिक्षा को योग शिक्षा नाम दिया जाए। परन्तु इस नाम की अपनी सीमाएँ हैं। आज योग का अर्थ केवल आसन-प्राणायाम तक ही सीमित कर दिया गया है। जबकि नये पाठ्यक्रम का विषय-वस्तु विस्तृत था। अहिंसा, अनेकान्त जैसे विस्तृत विषय-वस्तु से युक्त पाठ्यक्रम को केवल योग-शिक्षा नाम देना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इस नाम से समग्र विकास की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसलिए योग शिक्षा नाम पूर्णरूप से उचित नहीं लगा।

## नैतिक शिक्षा

नैतिक शिक्षा इस नाम पर चिन्तन चला पर नैतिक शब्द अपने आप में स्पष्ट न था। नैतिक शिक्षा एक उपदेशात्मक प्रक्रिया है। उपदेश का प्रभाव व्यापक एवं स्थायी नहीं रहता। स्थायित्व के लिए प्रयोग एवं अभ्यास आवश्यक हैं। नये पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य प्रयोग एवं अभ्यास था अतः नैतिक शिक्षा नाम देने से नये पाठ्यक्रम के मुख्य उद्देश्य की स्पष्टता का अभाव हो रहा था। फलतः यह नाम भी उपयुक्त नहीं लगा।

## स्वास्थ्य शिक्षा

इसका भी क्षेत्र सीमित है। यह भी शरीर तक ही सीमित रह जाता है। इससे सामाजिक विकास, अध्यात्मिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए यह नाम भी सटीक प्रतीत नहीं हुआ।

## मूल्यपरक शिक्षा

यह सही है कि जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा भी है परन्तु उक्त नाम देने में कुछ कठिनाइयाँ आईं। वे यह थी कि केन्द्रीय सरकार इस नाम पर कार्य कर रही थी। इसलिए नये नाम का चिन्तन चलता रहा। परिणामस्वरूप नया नाम सामने आया—जीवन विज्ञान।

### १.२.३ जीवन विज्ञान : अर्थ

जीवन विज्ञान—जीवन और विज्ञान इन दो शब्दों के योग से बना है।

जीवन को परिभाषित करते हुए कहा गया “जीवन प्राणधारण”। प्राण को धारण करना जीवन है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवन का अर्थ है—शरीर, प्राण, मन, चित्त, कर्म और भाव का सम्मिलित रूप तथा विज्ञान का अर्थ है—विशेष रूप से वस्तु के स्वरूप को जानना। इस अर्थ में जीवन विज्ञान का अर्थ है—जीवन के मूलभूत अंग, जीवन के सम्पूर्ण पक्ष, जीवन के सही स्वरूप को विशेष रूप से जानने वाला विज्ञान। सरल शब्दों में कहा जाए तो जीवन विज्ञान चारित्रिक और नैतिक विकास की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है।

जीवन विज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा गया—

१. जीवन विज्ञान सम्यक् जीवन जीने की कला के विज्ञान का प्रशिक्षण है।
२. जीवन विज्ञान अहिंसा, नैतिकता एवं आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा पद्धति का नाम है।
३. शिक्षा में ‘अणुव्रत’ और ‘प्रेक्षाध्यान’ की समन्वित पद्धति का नाम जीवन विज्ञान है।
४. जीवन के नियमों की खोज का नाम जीवन विज्ञान है।
५. जीवन के मुख्य अंगों पर विचार एवं प्रयोग का नाम जीवन विज्ञान है।

जीवन विज्ञान के विविध पहलुओं के आधार पर इस ‘नई विद्या शाखा’ को समग्रता से इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—“जीवन विज्ञान वह विज्ञान है, जो जीवन के मुख्य अंग, उनके विकास के साधन एवं उनका जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग का वैज्ञानिक अध्ययन करता है, जिसकी परिणति संतुलित जीवन, मानवीय मूल्य एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास के रूप में होती है।”

## १.२.४ जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य

शिक्षा जगत् में अनेक विद्याशाखाएँ विद्यमान हैं। जब-जब नये-नये प्रश्न, जिज्ञासाएँ एवं समस्याएँ उभरती हैं, तब-तब उन्हीं जिज्ञासा एवं समस्या-समाधान के सन्दर्भ में नई-नई विद्याशाखाएँ भी उभरती रहती हैं। प्रत्येक विद्याशाखा का समस्याओं के समाधान में एक निश्चित दृष्टिकोण रहता है। उसका अपना परिप्रेक्ष्य रहता है। उसके अध्ययन के कुछ अपने मुख्य लक्ष्य व उद्देश्य रहते हैं। अपने लक्ष्य एवं दृष्टिकोण से अध्ययन व अनुसंधान होने पर उसका विकास क्रम आगे से आगे बढ़ता है। कालान्तर में समस्या-समाधान में वह विद्या-शाखा एक नई दृष्टि प्रदान करती है, जिससे व्यक्ति और समाज लाभान्वित होते हैं। जीवन-विज्ञान एक नई विद्या-शाखा है, उसके भी अपने लक्ष्य एवं उद्देश्य हैं।

### जीवन विज्ञान का लक्ष्य

१. जीवन के परिष्कार द्वारा आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करना।
२. जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं चैतसिक प्रक्रियाओं पर योग एवं प्रेक्षाध्यान की प्रक्रियाओं के प्रभावों का वैज्ञानिक अध्ययन करना।
३. जीवन के उन नियमों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन एवं अन्वेषण करना, जिससे जीवन के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष का परिष्कार होता है।
४. स्वस्थ समाज की संरचना के लिये ऐसे व्यक्तित्व (प्रशिक्षक) का निर्माण करना, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों हेतु स्वस्थ जीवन की प्रायोगिक अभ्यासात्मक प्रक्रियाओं को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सकें। इसके माध्यम से वह समग्र व्यक्तित्व एवं स्वस्थ समाज के निर्माण में सहभागी बन सकें।

### उपरोक्त लक्ष्यों द्वारा जीवन-विज्ञान अनेक उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है-

१. बौद्धिक और भावात्मक विकास का संतुलन।
२. संवेग और विवेक में सामंजस्य।
३. सामाजिकता और वैयक्तिकता में सामंजस्य।
४. मानवीय संबंधों में परिवर्तन।
५. नैतिक मूल्यों का विकास।
६. आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।
७. मानवीय समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता का विकास।
८. पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ अच्छे ढंग से जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण।
९. संवेग नियंत्रण की पद्धति सिखाना।
१०. सामाजिक व्यवहार को निश्चल एवं मैत्रीपूर्ण बनाना।
११. मादक वस्तुओं के सेवन से मुक्ति दिलाना।
१२. जीवन की समस्याओं के समाधान की खोज एवं स्वस्थ जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करना।
१३. स्वयं की शक्तियों से परिचय कराना एवं उपयोग करने में दक्ष बनाना।

उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जीवन के प्रमुख घटक श्वास, चित्त, मन, प्राण, भाव, इन्द्रिय, बुद्धि आदि को ठीक ढंग से समझना जरूरी है। मनोविज्ञान एक महत्वपूर्ण विद्याशाखा है, जिसका मुख्य लक्ष्य मानव व्यवहार की व्याख्या करना है। मानव व्यवहार की व्याख्या के लिए इसके अन्तर्गत कुछ सिद्धान्तों का भी निर्माण किया जाता है। यह सिद्धान्त मानव के व्यवहार एवं संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं-स्मृति, चिन्तन, प्रत्यक्षण, भाव, संवेग आदि से ही संबंधित होते हैं।

अतः जीवन विज्ञान के अन्तर्गत जीवन के मुख्य घटकों का अध्ययन मनोविज्ञान के सन्दर्भ में भी करना आवश्यक है। जीवन के मुख्य अंगों का मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अवधारणा प्रस्तुत करने से पूर्व मनोविज्ञान क्या है? इसे समझना भी जरूरी है।

## १.३ मनोविज्ञान : स्वरूप

### १.३.१ मनोविज्ञान : परिभाषा

‘मनोविज्ञान’ का अंग्रेजी रूपान्तरण ‘Psychology’ है, जो दो ग्रीक शब्दों Psyche तथा Logos के मिलने से बना है। ‘Psyche’ का अर्थ है—आत्मा तथा ‘Logos’ का अर्थ है—अध्ययन। शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए प्रारम्भ के समय में मनोविज्ञान का अर्थ आत्मा के अध्ययन का विज्ञान किया गया। ईसा की १६वीं शताब्दी तक मनोविज्ञान ‘आत्मा का विज्ञान’ माना जाता था। आत्मा की खोज और उसके बारे में विचार करना ही मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य था। परन्तु आत्मा का कोई निश्चित आकार, स्वरूप और रंग न होने के कारण इसका वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव न था। अतः मनोवैज्ञानिकों ने इसे आत्मा का विज्ञान न मानकर ‘मस्तिष्क का विज्ञान’ माना। मस्तिष्क के स्वरूप को भी सही ढंग से निर्धारित न कर पाने के कारण बाद में आने वाले मनोवैज्ञानिकों द्वारा इसे ‘चेतना का विज्ञान’ कहा गया। इस अर्थ को लेकर भी विद्वानों में काफी मतभेद रहा। इस प्रकार चिन्तन मनन करते-करते मनोवैज्ञानिकों ने अनुभव किया कि यह एक ऐसा विज्ञान है, जो मनुष्यों एवं पशुओं के व्यवहार का अध्ययन करता है। यह हमें इस बात से अवगत कराता है कि क्यों, कैसे तथा किन परिस्थितियों में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ एक विशेष प्रकार का व्यवहार करता है तथा उस व्यवहार के आधार पर व्यक्ति के मन को जानने का प्रयास करता है। इस विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए मनोवैज्ञानिकों ने इसका नाम ‘मनोविज्ञान’ दिया।

मनोवैज्ञानिक सी. वुडवर्थ के अनुसार, “मनोविज्ञान वातावरण के सम्बन्ध में व्यक्ति की क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।”

ई. वाट्सन के अनुसार, “मनोविज्ञान व्यवहार का शुद्ध विज्ञान है।”

जेम्स डे-वर के अनुसार, “मनोविज्ञान वह शुद्ध विज्ञान है, जो मानव तथा पशु के उस व्यवहार का अध्ययन करता है, जो उसके अन्तर्जगत् के मनोभावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है, जिसे हम मानसिक जगत् कहते हैं।”

हिलगार्ड तथा एटकिन्सन के शब्दों में, “मनोविज्ञान की परिभाषा एक विज्ञान के रूप में दी जा सकती है, जो मानव तथा दूसरे प्राणियों के व्यवहार का अध्ययन करता है।”

### १.३.२ मनोविज्ञान की शाखाएँ

मनुष्य के सम्पूर्ण जीवनकाल में अनेक परिस्थितियाँ आती हैं। इन परिस्थितियों की भिन्नता के आधार पर मनुष्य का व्यवहार भी बदलता रहता है। मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है, जो मनुष्य द्वारा कृत व्यवहार के आधार पर ही मानव एवं मानव मन का अध्ययन करता है। मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, परिवेश एवं अवस्थाओं के आधार पर मनोविज्ञान की भी अनेक शाखाएँ हो जाती हैं। मनोविज्ञान मुख्य रूप से जिन क्षेत्रों के अन्तर्गत मानव जीवन का अध्ययन करता है, उसके आधार पर निर्मित मनोविज्ञान की कुछ शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

१. सामान्य मनोविज्ञान,
२. बाल मनोविज्ञान,
३. प्रौढ़ मनोविज्ञान,
४. वैयक्तिक मनोविज्ञान,
५. समाज मनोविज्ञान,
६. असामान्य मनोविज्ञान,
७. नैदानिक मनोविज्ञान।

### १. सामान्य मनोविज्ञान

मनोविज्ञान की एक शाखा है—सामान्य मनोविज्ञान। इसके अन्तर्गत सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य किस प्रकार का व्यवहार करता है? इसका अध्ययन किया जाता है।

## २. बाल मनोविज्ञान

इसके अन्तर्गत बालक के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान की इस शाखा में बालक की संवेदनाओं, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना इत्यादि विषयों का अध्ययन किया जाता है। बालक के ऊपर वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है? उसके वंशानुक्रम का उसकी वृद्धि में क्या योगदान है? उसमें जन्मजात कौन-सी प्रेरणाएँ होती हैं? आदि बातों का अध्ययन इसी मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

## ३. प्रौढ़ मनोविज्ञान

यह मनोविज्ञान प्रौढ़ व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करता है। एक ही परिस्थिति में बालक का व्यवहार भिन्न होता है। प्रौढ़ का व्यवहार भिन्न होता है। अतः किस परिस्थिति में प्रौढ़ का व्यवहार कैसा होगा? इसका अध्ययन प्रौढ़ मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

## ४. वैयक्तिक मनोविज्ञान

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता है। स्त्री हो या पुरुष सभी की कुछ न कुछ अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ होती हैं। इन्हीं वैयक्तिक विशेषताओं का अध्ययन वैयक्तिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

## ५. समाज मनोविज्ञान

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है, वह समाज में जीता है, समाज में बड़ा होता है। समाज का उसके जीवन एवं व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति कैसा व्यवहार करता है, उसका अध्ययन भी जरूरी है। इसका अध्ययन समाज मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

## ६. असामान्य मनोविज्ञान

मानसिक बीमारियों से ग्रसित होने के कारण जिन लोगों का व्यवहार असंगत हो जाता है, ऐसे लोगों के व्यवहार का अध्ययन असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत होता है।

## ७. नैदानिक मनोविज्ञान

यह भी मनोविज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जो ऐसे व्यक्ति की आवश्यकताओं से संबंधित है, जो समाज अथवा अपने आपसे द्वन्द्वात्मक स्थिति में है। यह असंतुलित एवं कुसमायोजित व्यवहार की जांच, उपचार तथा अध्ययन से सम्बन्ध रखती है।

वस्तुतः मनोविज्ञान एक ही है। परन्तु इसके कार्यक्षेत्र विविध हैं। उपरोक्त शाखाएँ इसके कार्यक्षेत्र के आधार पर विभक्त की गई हैं।

### १.३.३ मनोविज्ञान का लक्ष्य

मनोविज्ञान मानव और पशु के व्यवहार एवं संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। इस अध्ययन के पीछे उसके कुछ लक्ष्य छिपे होते हैं, जिन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है—

- (i) मापन एवं वर्णन,
- (ii) पूर्वानुमान एवं नियंत्रण,
- (iii) व्याख्या।

**(i) मापन एवं वर्णन**—मनोविज्ञान का सबसे प्रथम लक्ष्य प्राणी के व्यवहार एवं संज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ स्मृति, चिन्तन, बुद्धि, मनोवृत्ति आदि का मापन करना तथा उनका वर्णन करना होता है, जैसे—बुद्धि परीक्षण द्वारा बुद्धि का मापन करने पर यदि किसी की बुद्धि लब्धि १३० आती है तो मनोवैज्ञानिक यह समझते हैं कि यह व्यक्ति तीव्र बुद्धि का है और विभिन्न परिस्थितियों में बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार कर सकता है। यदि बुद्धिलब्धि मन्द स्तर का होता है तो वह विभिन्न परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर सकेगा। इस प्रकार मनोविज्ञान का प्रथम लक्ष्य है व्यक्ति के व्यवहार का मापन करना तत्पश्चात् उसका वर्णन करना।



(ii) **पूर्वकथन एवं नियंत्रण**—मनोविज्ञान का दूसरा लक्ष्य व्यक्ति के व्यवहार के बारे में पूर्वकथन करना है कि व्यक्ति अमुक परिस्थिति में क्या कर सकता है? कैसे कर सकता है? ताकि उसे ठीक ढंग से नियंत्रित किया जा सके। जैसे—किरीसी व्यक्ति की अभिक्षमता के आधार पर मनोवैज्ञानिक पूर्व कथन करते हैं कि व्यक्ति को किस कार्य में नियोजित किया जा सकता है ताकि अधिक से अधिक सफलता मिल सके।

(iii) **व्याख्या**—मनोविज्ञान का अंतिम लक्ष्य मानव व्यवहार की व्याख्या करना होता है। व्यवहार की व्याख्या करने के लिए मनोवैज्ञानिक कुछ सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं ताकि उनकी व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से की जा सके। कुछ विद्वानों का मत है कि मानव व्यवहार की व्याख्या करना मनोविज्ञान का सबसे अच्वल लक्ष्य है।

---

## बोध-प्रश्न - १

---

### १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. जीवन विज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डालें।
२. जीवन विज्ञान क्या है? इस सन्दर्भ में सार-गर्भित लेख लिखें।
३. मनोविज्ञान को समझते हुए इसके मुख्य लक्ष्य कौन-कौन से हैं? बताएँ।
४. जीवन विज्ञान के मुख्य उद्देश्य क्या हैं? इनकी प्राप्ति के लिए मनोविज्ञान सहयोगी है, कैसे? स्पष्ट करें।

---

## १.४ शरीर : मनोवैज्ञानिक आधार

---

जीवन का एक महत्वपूर्ण घटक है—शरीर। स्वस्थ जीवन के लिए शरीर की स्वस्थता अत्यन्त आवश्यक है। अतः शरीर क्या है? शरीर की हमारे जीवन में क्या भूमिका है? आदि बातों को जानना जरूरी है। प्रस्तुत अध्ययन में हम शरीर के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों की अवधारणा को समझने का प्रयास करेंगे। मनोविज्ञान के इतिहास को मूलतः दो भागों में बांटा जा सकता है—

१. पूर्ववैज्ञानिक काल,
२. वैज्ञानिक काल।

पूर्व वैज्ञानिक काल की शुरुवात ग्रीक दार्शनिक प्लेटो, अरस्तू, हिपोक्रेट्स आदि के विचारों से प्रारम्भ हुई। ग्रीक दार्शनिकों ने मानव व्यवहार की व्याख्या के लिए अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिनमें शरीर के गठन का सिद्धान्त काफी महत्वपूर्ण है। आधुनिक काल के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी शरीर केवल हाड, मांस का पुतला ही नहीं है अपितु यह मनुष्य के मन और व्यवहार को प्रभावित करने वाली एक महत्वपूर्ण इकाई है। इस प्रकार दोनों काल के मनोवैज्ञानिकों के विचारों का अध्ययन किया जाये तो शरीर के सन्दर्भ में उनके विचारों को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्टतः समझा जा सकता है—

### (i) मानव व्यवहार का आधार

शरीर के सन्दर्भ में निम्न विचार दार्शनिक हिपोक्रेट्स ने दिया था। हिपोक्रेट्स के अनुसार शरीर में चार द्रव होते हैं—पीला पित्त, काला पित्त, रक्त तथा श्लेष्म। जब शरीर में पीला पित्त अन्य तीनों द्रव की अपेक्षा अधिक हो जाता है, तब व्यक्ति में आक्रमणशीलता तथा उत्तेजनशीलता अधिक हो जाती है। जब काला पित्त अन्य द्रवों की अपेक्षा अधिक हो जाता है तब व्यक्ति का व्यवहार शांत तथा गैर मिलनसार हो जाता है। जब रक्त की मात्रा अधिक होती है तब व्यक्ति खुश एवं आशावादी बन जाता है। जब श्लेष्म की मात्रा अधिक होती है, तब व्यक्ति सुस्त तथा थका-थका महसूस करता है। हिपोक्रेट्स के पश्चात् आने वाले मनोवैज्ञानिकों ने भी शरीर का उपयोग व्यवहार पहचान के माध्यम के रूप में किया।

### (ii) व्यक्तित्व का निर्धारक

मनोवैज्ञानिक क्रेत्समर तथा उनके पश्चात् आने वाले मनोवैज्ञानिकों ने शरीर को व्यक्तित्व के निर्धारक के रूप में स्वीकार किया। क्रेत्समर ने शारीरिक गठन के आधार पर शरीर को चार भागों—पुष्टकाय, कृशकाय, तुन्दिलकाय और मिश्रकाय में विभक्त

किया तथा इन शरीर के प्रकारों के आधार पर मानव स्वभाव को व्याख्यायित किया। क्रेत्समर के अनुसार पुष्टकाय वाले लोगों का शारीरिक गठन अच्छा होता है। इनके कंधे चौड़े, पीठ सीधी, हाथ-पांव की पेशियाँ अच्छी तरह विकसित होती हैं, ये लोग साहसी, निर्भीक एवं दूसरों पर प्रभुत्व जमाने वाले होते हैं। कृशकाया वाले दूसरों की आलोचना करने वाले होते हैं, परन्तु स्वयं की आलोचना उन्हें सहन नहीं होती। तुन्दिल शरीर वालों में तोंद की प्रधानता होती है। ये टिगने, हट्टे-कट्टे गोल-मटोल होते हैं। मिलनसार, हंसमुख तथा मैत्री रखने वाले होते हैं तथा बातूनी होते हैं। मिश्रकाय वालों का शरीर बेलोचदार तथा असामान्य होता है। इस शरीर वाले प्रायः मानसिक रोगी होते हैं। शैल्डन ने शरीर को स्थूलकाय, मध्यकाय, लम्बाकार इन तीन भागों में विभक्त कर इन तीनों के आधार पर व्यक्तित्व का निर्धारण किया। शैल्डन के अनुसार स्थूल काय वाले आराम प्रेमी, मंद प्रतिक्रिया, भोजन प्रिय, सहिष्णु होते हैं। मध्यकाय वाले शारीरिक श्रम और कार्यप्रेमी, ओजस्वी तथा मनोरंजन प्रेमी होते हैं तथा लम्बाकार वालों में तत्काल प्रतिक्रिया, एकांत प्रेमी, भावात्मक गोपनीयता, संवेदनशीलता एवं मानसिक क्रियाशीलता आदि गुण पाये जाते हैं।

### (iii) मन को प्रभावित करने वाला कारक

कुछ ग्रीक मनोवैज्ञानिक आगस्टाईन तथा थॉमस का विचार था कि मन तथा शरीर दो चीजें हैं और इन दोनों में किसी प्रकार का संबंध नहीं होता है। शरीर से संबंधित घटनाओं का मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा मन से संबंधित घटनाओं का शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु डेकार्ट, लाइबनीज तथा स्पिनोजा ने इस बात का विरोध किया और बतलाया कि सचमुच मन और शरीर दोनों एक-दूसरे से संबंधित हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन दार्शनिकों ने शरीर और मन के बीच गहरा सम्बन्ध माना।

### (iv) शरीर और व्यवहार

दैहिक मनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जो शरीर की विविध क्रियाओं के आधार पर मानव व्यवहार का अध्ययन करती है। दैहिक मनोविज्ञानी के अनुसार हमारे शरीर में जितनी भी ग्रंथियाँ हैं—पिट्यूटरी, पीनियल, एडि-नल, गोनाड्स आदि। इन सबसे स्रावित हार्मोन्स का मनुष्य के व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सुख-दुःख, आशा-निराशा, क्रोध, घृणा, आत्मविश्वास, प्रेम आदि सकारात्मक या नकारात्मक जितने भी भाव व्यक्ति के व्यवहार में अभिव्यक्त होते हैं, इन सबके पीछे कारण के रूप में मनोवैज्ञानिकों ने शरीर में स्थित ग्रंथियों को ही स्वीकार किया है। इसके अलावा मस्तिष्क जो हमारे शरीर का महत्त्वपूर्ण भाग है, उसकी क्रियाओं का भी हमारे मन और व्यवहार पर सीधा असर पड़ता है।

### (v) सम्यक्-असम्यक् अनुक्रियाओं का आधार

शरीर क्रिया मनोवैज्ञानिकों ने प्राणी के शरीर की कोशिकाओं को मूलतः तीन भागों में बांटा है—१. ग्राहक कोशिका, २. प्रभाव कोशिका, ३. समायोजक कोशिका। **ग्राहक कोशिका** से तात्पर्य वैसी कोशिकाओं से हैं, जो विशेष तरह से उद्दीपकों से उत्तेजित होती हैं तथा उनके उत्तेजन को ग्रहण करती हैं। सामान्य प्राणी में जो ग्राहक पाये जाते हैं, वे चार तरह के उद्दीपकों से प्रभावित होते हैं—तापीय ग्राहक, यांत्रिक ग्राहक, रासायनिक तथा रोशनी ग्राहक। तापीय ग्राहक में त्वचा के ठण्डे एवं गर्म ग्राहक कोशिकाएँ होती हैं। इन कोशिकाओं से व्यक्ति को ठंडे एवं गर्म उत्तेजनाओं का ज्ञान होता है। यांत्रिक ग्राहक में श्रवण तथा स्पर्श संवेदन की कोशिकाएँ होती हैं। रासायनिक ग्राहक में स्वाद, घ्राण तथा रासायनिक संवेदनशीलता की कोशिकाएँ होती हैं। रोशनी ग्राहक की कोशिकाएँ आँख में होती हैं। **प्रभावक कोशिका** से तात्पर्य उन कोशिकाओं से होता है, जिनकी मदद से प्राणी ग्राहक कोशिकाओं से प्राप्त उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया करता है। मांसपेशियों एवं ग्रंथियों की कोशिकाएँ प्रभावक कोशिकाओं के अन्तर्गत आती हैं। **समायोजक कोशिकाओं** से तात्पर्य उन कोशिकाओं से है, जो ग्राहक कोशिकाओं तथा प्रभावक कोशिकाओं में सम्बन्ध जोड़ती हैं। फलतः ग्राहक कोशिकाओं से आने वाले आवेग प्रभावक कोशिकाओं तक पहुँच जाते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इन तीनों कोशिकाओं के परस्पर सहयोग से ही व्यक्ति प्राप्त उद्दीपक के सही अर्थ को समझकर सही अनुक्रिया कर पाता है। इन तीनों में से एक का भी यदि कार्य दोषपूर्ण हो जाए तो व्यक्ति की अनुक्रिया सही ढंग से नहीं हो पाती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शरीर एक ऐसा महत्त्वपूर्ण घटक है, जो हमारे मन और व्यवहार दोनों को प्रभावित करता है। स्वस्थ शरीर स्वस्थ मन को जन्म देता है तो अस्वस्थ या बैडोल शारीरिक गठन व्यक्ति में कुण्ठा या निराशा के भाव पैदा कर देता है।



## १.५ शरीर : आध्यात्मिक दृष्टिकोण

मनोवैज्ञानिकों ने केवल स्थूल शरीर को ही मनुष्य के व्यवहार और मन को प्रभावित करने वाले कारक के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु अध्यात्माचार्यों ने मनुष्य के व्यवहार के कारक के रूप में केवल स्थूल शरीर को ही न स्वीकार कर सूक्ष्म शरीर की भी चर्चा की। उन्होंने शरीर के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शरीर की स्वस्थता हेतु उपाय भी निर्दिष्ट किये।

### १.५.१ शरीर : अर्थ

शरीर क्या है? इस सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न परन्तु समान मत दिये हैं। वेद में शरीर को परिभाषित करते हुए कहा गया—

शरीर की जीवंतता केवल आत्मा की चेतनता से है, अन्यथा यह शरीर तो केवल शव है। चेतना के बिना न इसमें ज्ञान है, न रूप है, न भावना है और न ही कोई संवेदना है। उसे (मृतक शरीर को) तो छूने मात्र से मनुष्य अपवित्र हो जाता है। परमपिता परमात्मा का अंश आत्मा जब तक इस मरणशील, अरूप, असुन्दर शरीर में रहता है, तब तक वही इसे रूप सौन्दर्य की आभा प्रदान करता है। चैतन्य के संसर्ग से ही इस शरीर की पवित्रता है। गीता में भी शरीर को नश्वर, जीर्ण-शीर्ण होने वाला कहा गया है। आत्मा कभी न जनमता है और न मरता है परन्तु यह शरीर अशाश्वत, अनित्य नाशवान् है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।  
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देहि ॥**

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर को प्राप्त होता है। भगवान महावीर ने भी शरीर को नाव एवं आत्मा को नाविक कहा—“शरीरमाहु नाव ति जीवो वुद्यई नावियो” शरीर नौका है, जीव नाविक और संसार समुद्र है। मोक्ष की खोज में निकले हुए इस नौका पर आरूढ़ हो संसार से पार पा जाते हैं।

आचार्य तुलसी ने शरीर को सरल शब्दों में परिभाषित करते हुए जैन सिद्धान्त दीपिका में लिखा है—“सुखदुखानुभव साधनं शरीरं” सुख-दुःख का अनुभव करने वाला जो साधन है, वह शरीर है। आचार्य तुलसी के अनुसार शरीर एक कारागृह है। आत्मा उसमें रहने वाली एक बन्दी है। आत्मा को इस कारागृह से मुक्त करने के लिए शरीर को साधना जरूरी है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में—शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। जहाँ शरीर होता है, वहाँ केन्द्र है और वहीं कार्य की अभिव्यक्ति होती है। यदि हम इस शरीर तक सीमित हो जायें तो हम केवल एक भौतिक पदार्थ बन जायेंगे। विवेकानन्द के अनुसार जिस प्रकार एक पानी के गिलास की तली में अटका हुआ हवा का एक साधारण कण अनन्त वातावरण से मिलने के लिए संघर्ष करता है, उसी तरह यह आत्मा भी अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए इस भौतिक शरीर से मुक्त होने के लिए छटपटाती है। आत्मा को शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए इस शरीर से मुक्त होना ही पड़ता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जिसके द्वारा चलना, फिरना, खाना-पीना आदि क्रियाएँ होती हैं, जो प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता है, शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार जो छह सौ खरब कोशिकाओं का बना होता है, जैन दर्शन के अनुसार जो संसारी आत्माओं का निवास-स्थान है, उसे शरीर कहते हैं।

### १.५.२ शरीर : प्रकार

आत्मा रूप रहित है। उसको हम देख नहीं सकते। परन्तु आत्मा जिसमें निवास करती है, उस निवास-स्थान शरीर को हम देख सकते हैं। शरीर आत्मा से सर्वथा पृथक् है। जैनागमों में शरीर के पाँच प्रकार निर्दिष्ट हैं—

**१. औदारिक शरीर**—यह स्थूल शरीर है। चर्म, हाड, माँस, रक्त, मज्जा आदि सात धातुओं से बना हुआ है। इस शरीर का छेदन-भेदन किया जा सकता है। यह आत्मा से अलग हो जाने के बाद भी टिका रहता है। यह शरीर हमारी आँखों से देखा जा सकता है।

**२. वैक्रिय शरीर**—औदारिक शरीर की तरह इस शरीर का छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता। परन्तु इस शरीर को छोटा-बड़ा, सूक्ष्म-स्थूल कैसा भी बनाया जा सकता है। जैनागमों के अनुसार देव और नरक गति वाले जीवों के यही शरीर होता है। वैक्रिय शरीर आत्मा से अलग होते ही बिखर जाता है। वस्तुतः जिस शरीर में हाड, माँस, रक्त आदि सात धातुएँ न हो तथा मरने के बाद जो कपूर की भांति उड़ जाए, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं।

**३. आहारक शरीर**—विशिष्ट योग शक्ति सम्पन्न मुनि विशिष्ट प्रयोजनवश विशिष्ट पुद्गलों से जिस शरीर का निर्माण करते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है। यह शरीर औदारिक व वैक्रिय शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म तथा तैजस् व कार्मण शरीर की अपेक्षा स्थूल होता है। यह शरीर योग-शक्ति से प्राप्त होता है।

**४. तैजस शरीर**—जिस शरीर में आहार आदि को पचाने की क्षमता होती है। जो प्राणशक्ति का आधार है, वह तैजस शरीर है। यह शरीर आत्मा के साथ अनादि-अनन्त काल से रहता है। इस शरीर में औदारिक शरीर की तरह अंगोपांग नहीं होते। यह सूक्ष्म शरीर है। तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर के छूटने पर जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। इस शरीर को विद्युत शरीर भी कहा जाता है।

**५. कार्मण शरीर**—जिस शरीर का निर्माण कर्म पुद्गलों के संचयन से होता है, वह कार्मण शरीर कहलाता है। पूर्ववर्ती सभी शरीरों का कारण यही कर्म शरीर है। इस शरीर के भी अंगोपांग नहीं होते। औदारिक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करते वक्त भी आत्मा के साथ यह शरीर रहता है। आत्मा का इससे वियोग ही मोक्ष है। यह जब तक आत्मा के साथ रहता है, जीव संसार चक्र में भ्रमण करता रहता है। कार्मण शरीर का मूल कारण है—आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्ति।

शरीर के इन पाँच प्रकारों को तीन भागों में भी बाँटा जा सकता है—

**१. स्थूल शरीर**—जो इन चर्म आँखों से दिखाई देता है, वह स्थूल शरीर के अन्तर्गत आता है। औदारिक शरीर स्थूल शरीर है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो धर्म का प्रथम साधन यह स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर में अनेक शक्ति के केन्द्र हैं, जिन्हें जागृत कर विशिष्ट शक्तियों का अवतरण किया जा सकता है।

**२. सूक्ष्मतर शरीर**—पाँच शरीरों में निर्दिष्ट तैजस शरीर को सूक्ष्मतर शरीर माना गया। यह तेजोमय है, हमारी स्थूल शरीर की जितनी भी क्रियाएँ हैं, उनका संचालन इसके द्वारा ही होता है। जिसका तैजस् शरीर शक्तिशाली होता है, उसकी सारी क्रियाएँ तीव्र होंगी।

**३. सूक्ष्मतम शरीर**—कार्मण शरीर सूक्ष्मतम शरीर है। यह सभी शरीरों का मूल आधार है। स्थूल शरीर में जो वासना, संस्कार, आकांक्षा आदि वृत्तियाँ आ रही हैं, उसका मूल स्रोत यह कर्म शरीर अर्थात् कार्मण शरीर ही है। यह कार्मण शरीर ही स्थूल शरीर का निर्माता है। योग-साधना के द्वारा कार्मण शरीर पर प्रहार कर स्थूल शरीर द्वारा अभिव्यक्त किये जाने वाले नकारात्मक व्यवहार में भी परिवर्तन लाया जा सकता है।

### १.५.३ शरीर : महत्त्व

शरीर नश्वर है। यह एक सत्य है। इसके बारे में दो प्रकार की धारणाएँ काम कर रही हैं। एक अभिमत के अनुसार शरीर असार है, गन्दगी का घर है और मोक्ष का बाधक है। इस मत को पुष्ट करते हुए कबीरजी ने भी कहा—

**गन्दली सी देही (तेरी) क्या गुण कहिये।**

**हंस चल्यां पछे पलक न रहिये ॥**

उपाध्याय विनयविजयजी ने शरीर की विकृतियों को विश्लेषित करते हुए कहा है—यह शरीर इतना मलिन है कि इसे अच्छे से अच्छा संस्कारित भोजन कराया जाता है, वह भी मल में परिणत होकर जुगुप्सा उत्पन्न करता है। गाय का धारोष्ण दूध पिलाया जाता है, वह भी मूत्र बन जाता है।

शरीर के सन्दर्भ में एक उपरोक्त मत है तो दूसरा अभिमत शरीर को मोक्ष प्राप्ति में सहायक मानता है। उसके अनुसार मनुष्य के शरीर में ही ऐसा नाड़ी संस्थान है, जिससे कुछ वैशिष्ट्य प्राप्त किया जा सकता है। इस मत के अनुसार शरीर में आत्मा है। परमात्मा का निवास भी यहीं है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ही परमात्मा बनती है। जहाँ परमात्मा रहता है, उस स्थान को गन्दा कैसे माना जा सकता है। भगवान् महावीर ने भी शरीर को मोक्ष साधना में सहयोगी माना। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशिष्ट साधना इसी शरीर के द्वारा हो सकती है। शरीर के सन्दर्भ में जो भी मत रहे हों परन्तु शरीर की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। शरीर के महत्त्व को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—

**१. अनन्त शक्ति का स्रोत**—शरीर को समझने या जानने के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। एक चिकित्सक चिकित्सा की दृष्टि से शरीर को समझता है। आध्यात्मिक व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर को जानता है, विश्लेषित करता है। एक वैज्ञानिक विज्ञान के सन्दर्भ में ही इसे जानता है, परखता है। हम समष्टिगत रूप से देखें तो सभी दृष्टियों से शरीर का अपना महत्त्व रहा है।

शरीर क्रिया-विज्ञान के अनुसार इस छोटे-से दिखाई देने वाले शरीर में अनेक शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। ६०० खरब कोशिकाओं से निर्मित इस शरीर की एक-एक कोशिका में एक बड़े कारखाने की भाँति काम हो रहा है। प्रतिक्षण इस शरीर में सैकड़ों प्रकार के न्यूरोट-इंसमीटर का निर्माण एवं हार्मोन्स का स्राव होता है। इनका उचित नियमन एवं उपयोग किया जाए तो आज का एक सामान्य व्यक्ति भविष्य का एक बड़ा विद्वान्, तत्त्ववेत्ता या प्रसिद्ध वैज्ञानिक बन सकता है। इसके लिए शारीरिक शक्तियों का जागरण ही महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्माचार्यों के अनुसार भी आज मनुष्य अपनी मस्तिष्कीय क्षमता का बहुत कम प्रतिशत ही उपयोग में लेता है। यदि मस्तिष्क की पूरी क्षमता का उपयोग किया जाए तो वह जिस उपलब्धि को प्राप्त करेगा, वह अवर्णनीय होगा। उसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकेगा। जैनागमों के अनुसार शरीर अनन्त शक्ति का स्रोत है। इस शक्ति का सदुपयोग कर मनुष्य महान् पुरुष बन सकता है।

**२. साधना का प्रथम साधन-** चेतना की मलिनता को दूर करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है-धर्म। शास्त्रों में आत्म-पवित्रता तथा कर्म-क्षय हेतु धर्म का उपदेश दिया गया। परन्तु प्रश्न है-धर्म कैसे किया जाए? धर्म का प्रथम साधन है-शरीर। शरीर के बिना धर्म नहीं किया जा सकता। प्राचीन ग्रंथों में कहा भी गया-**“शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्”** धर्म का प्रथम साधन यह स्थूल शरीर है। भगवान् महावीर ने भी संसार रूपी सागर को पार करने के लिए शरीर को नौका कहा। व्यवहार जगत् में भी हम देख सकते हैं कि जब व्यक्ति बूढ़ा हो जाता है या जब शरीर रुग्ण हो जाता है तब व्यक्ति चाहते हुए भी शारीरिक असामर्थ्य के कारण इच्छित कार्य को नहीं कर सकता। उसे दूसरों के सहारे ही अपना कार्य करना पड़ता है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी भगवान् महावीर ने शरीर की नश्वरता को पहचानकर समय पर ही धर्म के लिए सजग हो जाने का उपदेश दिया। वह अपने प्रिय शिष्य गौतम से कहते हैं-**“परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते, से जिम्बबले य हायई समयं गोयम मा पमायए”** अर्थात् तुम्हारा शरीर क्षीण हो रहा है, बाल सफेद हो रहे हैं, जिह्वा की शक्ति घट रही है, इसलिए हे गौतम! क्षण भर भी प्रमाद मत करो। अतः यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि हमारा स्थूल शरीर साधना का प्रथम साधन है। साधना की दृष्टि से इसका अपना महत्त्व है।

**३. शक्ति केन्द्रों का आधार-** अध्यात्माचार्यों ने हमारे शरीर को अनेक शक्ति-केन्द्रों का आधार माना, जिन्हें जागृत कर व्यक्ति अवधिज्ञान-अतीन्द्रिय ज्ञान को भी प्राप्त कर सकता है। इनके अनुसार यह शक्ति केन्द्र प्रत्येक व्यक्ति में होते हैं किन्तु यह सुषुप्तावस्था में रहते हैं। हठयोग में इन्हें चक्र, आयुर्वेद में इन्हें मर्मस्थान कहा गया है तथा प्रेक्षाध्यान में इन्हें तेरह चैतन्य केन्द्रों के नाम से जाना गया है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार यह चैतन्य केन्द्र केवल तेरह ही नहीं हैं वरन् हमारे पूरे शरीर में भरे पड़े हैं। तेरह चैतन्य केन्द्रों का उल्लेख तो शक्ति की सघनता की दृष्टि से किया गया है। इन तेरह स्थानों पर चेतना सघन रूप से रहती है परन्तु इनके अलावा अन्य क्षेत्रों को भी साधना के द्वारा जागृत कर विशिष्ट ज्ञान उपलब्ध किया जा सकता है। अतः शक्ति केन्द्रों का आधार यह शरीर अपने आप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

**४. मन और भाव का नियंत्रक-** यद्यपि यह सत्य है कि मन और भाव का सीधा असर हमारे शरीर पर पड़ता है। मन बीमार होता है तो शरीर भी बीमार हो जाता है। नकारात्मक भाव पैदा होते हैं तो शरीर भी रुग्ण-सा प्रतीत होता है परन्तु जितना सच यह है, उतना ही सत्य यह भी है कि हमारे मन और भाव भी शरीर से प्रभावित होते हैं। मनोविज्ञान ने साइकोसोमेटिक अर्थात् मनःकायिक बीमारियों का उल्लेख किया तो सोमोसाइकिक बीमारियों का भी उल्लेख किया है। कुछ बीमारियाँ ऐसी होती हैं, जो पहले शरीर में होती हैं फिर मन को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार शरीर मन और भावों का नियंत्रक भी है। शरीर के सन्दर्भ में विभिन्न मत रहे हैं। कुछ आचार्यों ने इसे नश्वर, विनाशशील, अशुचि का भण्डार कहकर इससे घृणा की है, फिर भी इसे पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता। इसकी नश्वरता एक सापेक्ष सत्य है। नश्वरता के साथ-साथ इसकी उपयोगिता तथा महत्ता को भी हमें स्वीकार करना ही होगा। यदि साधना के द्वारा इसे साध लिया जाए तो यह हमारे लिए उपयोगी ही नहीं वरन् अत्यन्त उपयोगी बन सकता है। जैनाचार्यों ने इसे उपयोगी बनाने के लिए इसकी शुद्धि की प्रक्रिया का विवेचन किया है।

**१.५.४ शरीर शुद्धि के उपाय-** गृहस्थ धर्म की दृष्टि से हो या साधना की दृष्टि से, शरीर का अपना महत्त्व है। एक रुग्ण, शक्तिहीन व्यक्ति परिवार, समाज व राष्ट्र- किसी के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। वह दूसरों पर भारभूत हो जाने के कारण अपने पर भी भार हो जाता है। इसीलिए गृहस्थ जीवन हो या एक साधक का जीवन शरीर की स्वस्थता अपेक्षित है। शारीरिक स्वस्थता के बिना मानसिक एवं भावनात्मक स्वस्थता की भी कल्पना नहीं की जा सकती। स्वस्थ जीवन की प्रथम कसौटी है-स्वस्थ शरीर। शारीरिक स्वस्थता के लिए अध्यात्माचार्यों ने शरीर शुद्धि के लिए निम्न उपाय निर्दिष्ट किये हैं। यहाँ शुद्धि का अर्थ

स्नान आदि बाहरी स्वच्छता से न होकर विशाल दृष्टि से किया गया है। शरीर शुद्धि का अर्थ है—शरीर को अनुकूल, प्रतिकूल सभी प्रकार की परिस्थितियों को सहने योग्य बनाना, विविध उपायों से शरीर को साधना, इसकी सोई शक्तियों को जगाना।

**१. कायक्लेश**—जैनागमों में कर्म तोड़ने के बारह उपाय बताये गए हैं। उनमें से एक है—कायक्लेश। कायक्लेश का शाब्दिक अर्थ है—शरीर को कष्ट पहुँचाना। शरीर को साधना की दृष्टि से कष्ट पहुँचाना कायक्लेश है। कष्ट पहुँचाने के अनेक माध्यम हैं, जैसे—गर्मी के मौसम में सूर्य के सामने खड़े होकर तपना, सर्दी में नदी के किनारे खड़ा होना। परन्तु यह कुछ कठिन तरीके हैं, जो पहुँचे हुए साधक के लिए ही संभव हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए छोटी, मोटी गर्मी-सर्दी में विचलित न होना, उन्हें सहन करना, आसनों के द्वारा शरीर को साधना, तपस्या करना आदि भी कायक्लेश है। कायक्लेश का अर्थ शरीर को अनावश्यक सताना नहीं अपितु शरीर द्वारा की गई अनावश्यक माँग पर नियंत्रण करना है। शरीर में आने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने से है।

**२. काय-गुप्ति**—शरीर शुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—काय-गुप्ति। शरीर द्वारा की जाने वाली अनावश्यक चंचलता को रोकना। व्यक्ति सुबह से लेकर शाम तक अनेक प्रवृत्तियाँ करता है। आँख से देखने का काम, कान से सुनने का काम, मस्तिष्क से चिन्तन, व्याख्या विश्लेषण आदि का कार्य करता है। व्यक्ति जितनी-जितनी प्रवृत्ति करता है, उतनी ही अपनी शक्ति का क्षय करता है। शरीर विज्ञान के अनुसार हमारी एक अंगुली हिलती है तो सैकड़ों माँसपेशियों को उसे हिलाने में शक्ति लगानी पड़ती है। अतः हम जितनी अनावश्यक प्रवृत्ति करते हैं, उतनी ही हमारी शक्ति का अपव्यय होता है। शक्ति-संचय का और शरीर को अनावश्यक चंचलता से दूर रखने का एक अच्छा उपाय है—काय-गुप्ति।

**३. शरीर प्रेक्षा**—प्रेक्षाध्यान का एक मुख्य अंग है—शरीर प्रेक्षा। शरीर प्रेक्षा का अर्थ है पूरे शरीर को बन्द आँखों से देखना, शरीर में घटित होने वाले कम्पनों-प्रकम्पनों को देखना। जब व्यक्ति शरीर प्रेक्षा करता है तब स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की ओर प्रस्थान होता है। सूक्ष्म शरीर को देखने का अर्थ है उस पर प्रहार करना। जब सूक्ष्म शरीर पर प्रहार होता है तब स्थूल शरीर की ग्रंथियाँ एवं मस्तिष्कीय क्रियाएँ स्वतः ही संतुलित होने लग जाती हैं।

**४. तपस्या**—आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार इस जगत् में दो प्रकार की विद्याएँ चलती हैं—एक दुःख पैदा करने वाली, दूसरी दुःख से मुक्ति दिलाने वाली “दुख विमोचिनी विद्या”। तपस्या दुःख विमोचिनी विद्या है। कर्म-शरीर दुःखों का कारण है, तपस्या इस कारण शरीर को क्षीण करती है, पतला करती है। तपस्या के अनशन (जब ऐसा लगे, यह शरीर काम का नहीं है तब इस शरीर का पालन-पोषण स्वेच्छा से छोड़कर अन्न का पूर्णतया परिहार करके साधना में लग जाना), ऊनोदरी (कम खाना), रसपरित्याग (दूध, दही आदि स्वादलोलुपता को बढ़ाने वाली गरिष्ठ चीजों का वर्जन करना), ध्यान, स्वाध्याय आदि अनेक प्रकार हैं। इनके पालन से कर्मशरीर की मलिनता कम होती है। तैजस् शरीर सक्रिय होता है। प्राण ऊर्जा का संचय होता है।

**५. त्रिबंध**—मूल बन्ध, उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध—ये तीनों बन्ध त्रिबन्ध कहलाते हैं। मूल बन्ध का प्रयोग शक्ति केन्द्र (सुषुम्ना के निचले छोर) पर संचित शक्ति को ज्ञान केन्द्र तक ले जाने में सहयोगी है तो उड्डीयान बंध से भी ज्ञान तन्तु प्रदीप्त होते हैं तथा जालन्धर बन्ध से कण्ठमणि पर दबाव पड़ने से थायराइड ग्रंथि प्रभावित होती है और हमारी प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष आदि की वृत्तियाँ नियंत्रित होती हैं, जिससे नकारात्मक प्रवृत्तियों का निरसन और शरीर शक्ति सम्पन्न बनता है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यवहार का मुख्य कारण केवल स्थूलशरीर को माना है तो सत्य के साक्षात्कर्ताओं ने स्थूल शरीर से भी आगे सूक्ष्म शरीर को हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण के रूप में स्वीकार किया है तथा अनावश्यक एवं अनुपयोगी क्रियाओं से मुक्ति पाने हेतु सूक्ष्म शरीर पर प्रहार करने का निर्देश दिया।

---

## बोध-प्रश्न - २

---

### १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए शरीर के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत करें।
२. शरीर क्या है? इसके आध्यात्मिक स्वरूप की व्याख्या करते हुए शरीर के प्रकारों को समझाएँ।
३. शरीर की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए शरीर की स्वस्थता एवं शुद्धता हेतु किन उपायों को अपनाया जा सकता है? स्पष्ट करें।
४. मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में शरीर को समझाइये।

## १.६ इन्द्रिय : मनोवैज्ञानिक आधार

स्वस्थ एवं संतुलित जीवन का दूसरा महत्त्वपूर्ण आधार है—इन्द्रियाँ। चंचल इन्द्रियाँ मनुष्य को दुःखी बनाती हैं तो सम्यक् रूप से नियोजित इन्द्रियाँ सुख प्राप्ति का आधार बनती हैं। अतः इन्द्रियाँ क्या हैं? यह किस प्रकार कार्य करती हैं? इन्हें कैसे नियोजित किया जा सकता है? समझना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इन्द्रियाँ पाँच हैं। इन पाँच इन्द्रियों के मुख्य दो कार्य हैं—संवेदन और प्रत्यक्षण।

### १.६.१ संवेदन : अर्थ

मनुष्य पाँच इन्द्रियों वाला प्राणी है। इन पाँच इन्द्रियों के माध्यम से वह प्रतिक्षण कुछ न कुछ ग्रहण करता रहता है। पाँच इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थ का यथार्थ बोध तभी होता है, जब मस्तिष्क इन पदार्थों का विश्लेषण करता है कि यह क्या है? मनोवैज्ञानिकों ने विश्लेषण की इस प्रक्रिया के प्रथम क्षण में होने वाले अनुभव या ज्ञान को संवेदन माना है। इस समय होने वाला ज्ञान अर्थ रहित होता है। यह पदार्थ के उपस्थित होने का आभास मात्र होता है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति सोया हुआ रहता है और कोई उसे पुकारता है। पुकारने वाले की आवाज की ध्वनि तरंगें कान (श्रवणेन्द्रिय) के माध्यम से मस्तिष्क के श्रवण खण्ड (Temporal lobe) में पहुँचकर कुछ होने का अर्थरहित ज्ञान करवाती हैं। इस प्रथम क्षण में होने वाले ज्ञान अथवा मानसिक प्रक्रिया को संवेदन कहते हैं।

संवेदन एक ऐसी सरल मानसिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हमें व्यक्ति एवं वस्तु के बारे में एक आभास मात्र होता है, क्योंकि इसमें अर्थहीनता एवं अस्पष्टता होती है। मौरिस के शब्दों में, “संवेदन से तात्पर्य दृष्टि, श्रवण, गंध, स्वाद, संतुलन, स्पर्श तथा दर्द के ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त मौलिक संवेदी आँकड़ों से होता है।” जे.पी. दास ने उद्दीपकों को प्राप्त करने की पहली अवस्था को ही संवेदन कहा है। संवेदन के स्वरूप को समझने के लिए इन चार तथ्यों की व्याख्या आवश्यक है, जो इस प्रकार हैं—

#### संवेदन एक मानसिक प्रक्रिया

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानसिक प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं—संज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक। संवेदन एक संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है। संज्ञानात्मक का अर्थ है वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा ज्ञान होता है। संवेदन को एक संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया कहा गया, क्योंकि इस प्रक्रिया के समय वस्तु, व्यक्तियों या घटनाओं का एक अस्पष्ट ज्ञान होता है।

#### संवेदन एक आरम्भिक मानसिक प्रक्रिया

किसी उद्दीपक का ज्ञानप्राप्त करने के लिए कई तरह की मानसिक क्रियाएँ होती हैं, जैसे—चिन्तन, तर्क, कल्पना आदि। परन्तु इन सभी क्रियाओं से पूर्व जो क्रिया होती है, वह है—संवेदन की। संवेदन की क्रिया हुए बिना व्यक्ति चिन्तन, तर्क आदि क्रियाओं तक पहुँच ही नहीं सकता।

#### संवेदन एक अर्थ रहित ज्ञान

संवेदन ज्ञान से पूर्व होने वाला अस्पष्ट, अर्थ रहित ज्ञान है। यह इतनी सरल प्रक्रिया है कि इसमें उद्दीपक का कोई स्पष्ट अर्थ पता नहीं चलता।

#### संवेदन के लिए उद्दीपक की परिस्थिति अनिवार्य

किसी पदार्थ या व्यक्ति का ज्ञान करने के लिए जब कोई मानसिक प्रक्रिया होती है, तब उस ज्ञान के प्रथम क्षण में होने वाले अनुभव या पदार्थ के आभास मात्र को संवेदन कहते हैं। अतः पदार्थ या व्यक्ति न हो तो संवेदन किसका हो? अतः संवेदन के लिए अनिवार्य शर्त है—उद्दीपक का होना।

### १.६.२ संवेदन प्रकार

इन्द्रियाँ पाँच हैं। इन पाँचों इन्द्रियों के द्वारा अपने विषय को अच्छी तरह जानने से पूर्व संवेदन होता है। अतः इन्द्रियों के आधार पर संवेदन के भी पाँच प्रकार किये गए हैं— १. दृष्टि संवेदन, २. श्रवण संवेदन, ३. घ्राण संवेदन, ४. रस संवेदन, ५. स्पर्श संवेदन।



## १. दृष्टि संवेदन

आँखें सभी ज्ञानेन्द्रियों में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। नेत्र के लिए कहा गया—“सर्वेन्द्रियाणां नेत्रं प्रधानम्”। नेत्रों के द्वारा हमें वस्तु का ज्ञान होता है। दृष्टि वह संवेदन है, जिस पर मनुष्य सर्वाधिक निर्भर रहता है। आँखें बड़ी जटिल ज्ञानेन्द्रिय है, इसके द्वारा वस्तु के स्वरूप, दूरी, रंग, गहनता आदि सभी का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। दृष्टि क्षेत्र का प्रत्येक बिन्दु एक साथ ही दृष्टि पटल में स्थित दृष्टि ग्राहकों पर प्रकाश प्रतिबिम्बित करते हुए उद्दीपन में एक ऐसे आकार का निर्माण कर देता है, जिसे तंत्रिका तंतु मस्तिष्क तक ले जाते हैं। इस प्रकार देखने की क्रिया सम्पन्न होती है। देखने की क्रिया में प्रकाश किरणों को पहले पारदर्शी कोर्निया, एक्युस (नेत्र तारा) और लेंस से होकर भीतर आना पड़ता है।

## २. श्रवण संवेदन

जब ध्वनि हमारे कान में प्रवेश करती है तब हमें श्रव्य संवेदन होता है। मानव के कान की रचना को मनोवैज्ञानिकों ने सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा है—बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण, अन्तःकर्ण। इन तीनों का वर्णन है—

(१) **बाह्य कर्ण**—जो कान का बाहरी हिस्सा है, जिसे हम देख पाते हैं। इसे दो भागों में बाँटा गया है—

१. पिना (कान का बड़ा वाला बाहरी भाग)। २. कान की नली।

(२) **मध्यकर्ण**—मध्यकर्ण एक छोटी-सी जगह है, जो हवा से भरी रहती है और इसमें कर्णपट से सटी हुई तीन हड्डियाँ होती हैं। जब ध्वनि तरंगें कान की झिल्ली को प्रकम्पित करती हैं तब यह तीनों हड्डियाँ भी प्रकम्पित होती हैं। तीनों हड्डियों में प्रकम्पन होने से ध्वनि की तीव्रता काफी बढ़ जाती है। फलस्वरूप हमें इसका श्रवण संवेदन अधिक स्पष्ट होता है।

(३) **अन्तःकर्ण**—कान का तीसरा प्रमुख भाग है, जिसमें श्रवण प्रकम्पन उत्पन्न करता है। तब अन्तःकर्ण में रहे हुए तरल पदार्थ में हलचल उत्पन्न होती है, परिणामस्वरूप तंत्रिका आवेग उत्पन्न होते हैं, जो श्रवण तंत्रिकाओं द्वारा मस्तिष्क में पहुँचते हैं। फलस्वरूप हमें श्रवण संवेदन होता है।

## ३. घ्राण संवेदन

घ्राण एक तरह का रासायनिक ज्ञानेन्द्रिय है। घ्राणेन्द्रिय अन्य संवेदी ग्राहकों से भिन्न होती है। ये सभी कुछ विशिष्ट प्रकार के न्यूरोन होते हैं, जो संवेदी उद्दीपकों से भिन्न होते हैं, जो संवेदी उद्दीपकों से सीधे सम्पर्क में आते हैं, फिर मस्तिष्क में पहुँच जाते हैं और व्यक्ति को घ्राण संवेदन होता है। घ्राण संवेदन वाले न्यूरोन की जीवन अवधि बहुत छोटी होती है अर्थात् आठ सप्ताह से भी कम होती है। घ्राण संवेदनों में व्यापक रूप से वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है।

## ४. स्वाद संवेदन

स्वाद भी एक रासायनिक ज्ञानेन्द्रिय है। स्वाद संवेदन के लिए मुख्य ग्राहक स्वाद कली (Taste Bud) होती है। जब मनुष्य कोई भी पदार्थ या द्रव्य को ग्रहण करता है, तब वह द्रव्य इन स्वाद कलियों के सम्पर्क में आता है, जिससे उसे स्वाद का अनुभव होता है। स्वाद संवेदन के द्वारा मनुष्य को चार तरह के स्वाद गुणों की पहचान होती है। वह चार तरह के स्वाद गुण निम्न प्रकार से हैं—मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा। अन्य स्वाद इन्हीं चार स्वाद गुणों के मिलने से उत्पन्न होते हैं। आधुनिक अध्ययनों से यह भी पता चला है कि स्वाद संवेदनशीलताओं में गहरी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। इन स्वाद संवेदनों के आधार पर मनुष्य को तीन समूह में बाँटा गया—अस्वादिष्ट, मध्यम स्वादिष्ट, उत्तम स्वादिष्ट।

## ५. त्वचा संवेदन

व्यक्ति के शरीर की त्वचा ही त्वचीय ज्ञानेन्द्रिय है, जो मानव शरीर का सबसे बड़ा ज्ञानेन्द्रिय है। मानव शरीर की त्वचा में बहुत सारे ग्राहक होते हैं, जिनके माध्यम से व्यक्ति को मूलतः तीन प्रकार के संवेदन होते हैं—१. स्पर्श, २. तापक्रम, ३. दर्द का संवेदन। प्रत्येक संवेदन में एक उपयुक्त उद्दीपक को समायोजित ऊर्जा में बदल दिया जाता है और मस्तिष्क उस समायोजित ऊर्जा की व्याख्या कर विशेष मनोवैज्ञानिक अनुभूति व्यक्ति में पैदा करता है। त्वचा ग्राहक मस्तिष्क के संवेदी कॉर्टेक्स को संवेदी सूचनाओं को भेजता है और मनुष्य को संवेदन करने में मदद करता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि व्यक्ति को दर्द की अनुभूति तब होती है, जब दर्द ग्राहक उत्तेजित होते हैं। इसके अलावा मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह भी स्पष्ट हुआ है कि दो व्यक्तियों में संवेदन की अनुभूति में वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग दर्द के प्रति काफी असंवेदनशील होते हैं।



### १.६.३ प्रत्यक्षण : अर्थ

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जब किसी वस्तु का ज्ञान किया जाता है, तब उस समय होने वाला अर्थरहित ज्ञान संवेदन कहलाता है। संवेदन के पश्चात् जब पदार्थ का अर्थ मालूम हो जाता है, उद्दीपक का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ज्ञान संवेदन न होकर प्रत्यक्षण कहलाता है। प्रत्यक्षण भी एक महत्त्वपूर्ण मानसिक प्रक्रिया है, जो संवेदन के पश्चात् होता है। एटकिन्सन तथा हिल्गार्ड के अनुसार—“प्रत्यक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हम लोग वातावरण में उपस्थित उद्दीपकों की व्याख्या करते हैं।”

कालमेन के अनुसार—“प्रत्यक्षण ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जीव को अपने आन्तरिक अंगों तथा अपने वातावरण के बारे में सूचना मिलती है।” इस प्रकार विभिन्न परिभाषाओं का समाकलन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्यक्षण एक सक्रिय, चयात्मक एवं संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है, जिसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

**१. प्रत्यक्षण के लिए उद्दीपक का होना अनिवार्य है**—जिस प्रकार उद्दीपक के बिना संवेदन नहीं हो सकता, उसी प्रकार उद्दीपक न हो तो प्रत्यक्षण भी असंभव है।

**२. प्रत्यक्षण एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है**—किसी पदार्थ को जानना ही प्रत्यक्षण कहलाता है। अतः प्रत्यक्षण मानसिक प्रक्रिया है कहना असंगत न होगा। परन्तु यह केवल मानसिक प्रक्रिया ही नहीं, एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है। चूँकि किसी उद्दीपक का प्रत्यक्षण करते समय व्यक्ति का मस्तिष्क काफी सक्रिय होकर वस्तु या घटना की व्याख्या करता है।

**३. प्रत्यक्षण एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है**—संवेदन को समझने के पश्चात् यह समझ लेना अति आसान है कि प्रत्यक्षण एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है, क्योंकि संवेदन एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है और प्रत्यक्षण उसके पश्चात् होने वाला स्पष्ट ज्ञान है, जिसमें बाह्य तथा आन्तरिक दोनों तरह के उद्दीपकों के बारे में ज्ञान होता है।

**४. प्रत्यक्षण में उद्दीपक का तात्कालिक अनुभव होता है**—जब किसी पदार्थ को हम देखते हैं तो तत्काल उसी समय हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है। हमने पदार्थ को वर्तमान में देखा और ज्ञान एक घंटा के पश्चात् हो, ऐसा नहीं होता है। अतः मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्यक्षण में उद्दीपक का तात्कालिक अनुभव होता है।

**५. प्रत्यक्षण में उद्दीपकों को संगठित किया जाता है**—प्रत्यक्षण में सिर्फ उद्दीपकों की व्याख्या नहीं की जाती है बल्कि उन उद्दीपकों का विशेष नियमों के आधार पर एक खास ढंग से संगठन भी होता है। उदाहरण स्वरूप यदि किसी व्यक्ति का एक हाथ किसी बीमारी के कारण काट दिया जाता है और वह व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित होता है तो उसे हम पूर्ण व्यक्ति के रूप में संगठित कर ही उसका प्रत्यक्षण करते हैं।

**६. प्रत्यक्षण एक चयनात्मक प्रक्रिया है**—हमारे सामने अनेक उद्दीपक हो सकते हैं परन्तु हम उन्हीं उद्दीपकों का प्रत्यक्षण करते हैं, जिन पर हम ध्यान देते हैं। प्रत्यक्षण में अवधान का काफी महत्त्व होता है। अतः यह एक चयनात्मक प्रक्रिया है।

### १.६.४ प्रत्यक्षण को प्रभावित करने वाले कारक

प्रत्यक्षण पर कई कारकों का प्रभाव पड़ता है। इस क्षेत्र में किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि प्रत्यक्षण पर व्यक्ति की मनोवृत्ति, अभिप्रेरण तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों का काफी प्रभाव पड़ता है। इन सभी तरह के कारकों को निम्नांकित तीन मुख्य भागों में बाँटा गया है— १. व्यक्तिगत कारक, २. सामाजिक कारक, ३. सांस्कृतिक कारक।

#### १. व्यक्तिगत कारक

मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि प्रत्यक्षण में प्रत्यक्षणकर्ता से संबंधित कारकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। व्यक्तिगत कारकों को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

#### \* शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकता

प्रत्यक्षण में भूख, प्यास आदि शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का भी काफी महत्त्व है। प्रसिद्ध प्रयोगात्मक मनोविज्ञानी ऑसगुड लिखते हैं कि जब वे भोजन करने के लिए जाते थे तो रास्ते में एक दफ्तर मिलता था, जिसका नाम ४००D था और वे प्रायः उसे FOOD पढ़ा करते थे। इससे यह संकेत मिलता है कि आसगुड अपने विशेष शारीरिक अवस्था अर्थात्

भूख के कारण ही ४००D को FOOD पढ़ा करते थे। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ भी प्रत्यक्षण को प्रभावित करती हैं। बहुत बार जिसे हम याद करते हैं, उसी का चेहरा दूसरों में नजर आता है।

### \* प्रत्यक्षण किये जाने वाले वस्तुओं के मूल्यों का प्रभाव

प्रत्यक्षण पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि व्यक्ति के लिए वस्तुओं या उद्दीपकों का मूल्य कितना है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि जिस वस्तु का मूल्य प्रत्यक्षणकर्ता के लिए अधिक होता है, उसका आधार भी उसे बड़ा मालूम होता है अर्थात् वह वस्तु उसे उतनी ही कीमती लगती है। उदाहरण के लिए एक पाँच रुपये की कलम को कोई ७० रुपये की बताये तो वह सस्ती कलम भी कीमती प्रतीत होने लगती है।

### \* प्रत्यक्षण पर मानसिक वृत्ति का प्रभाव

मानसिक वृत्ति का तात्पर्य है—मानसिकता। व्यक्ति जैसी मानसिकता का निर्माण करता है, पदार्थ उसे उसी रूप में दिखाई देने लगता है। मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे कुछ प्रयोग किये, जिसमें उन्होंने शाब्दिक निर्देश देकर प्रयोज्यों में एक मानसिकता का निर्माण कर दिया। उसे प्रयोज्यों के प्रत्यक्षण में स्पष्टतः देखा गया। एक अस्पष्ट चित्र को दिखाकर जब प्रयोज्यों को कहा गया कि वे उस चित्र में घोड़े पर सवार एक व्यक्ति का चित्र देखेंगे तो सचमुच उन प्रयोज्यों के द्वारा उस अस्पष्ट चित्र में घोड़े पर सवार व्यक्ति को देखा गया। आपके लिए नीचे एक वृक्ष का अस्पष्ट चित्र दिया जा रहा है—



उपर वृक्ष का एक अस्पष्ट चित्र दिया गया है। आपको उसमें एक वृक्ष दिखाई देगा। अगर आपको यह बात स्पष्ट हो गई कि उपरोक्त चित्र में कुछ चेहरों के चित्र हैं तो आपकी मानसिकता बदल जाएगी और आपको उनका साक्षात्कार होने लगेगा। इसी प्रकार हमारे जीवन में घटित होने वाली घटनाओं पर भी मानसिक वृत्तियों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

## २. सामाजिक कारक

सामाजिक कारकों का भी प्रत्यक्षण पर प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि कुछ ऐसे सामाजिक कारक हैं, जिनसे प्रत्यक्षण स्पष्ट रूप से प्रभावित होता है—

### \* सामाजिक मनोवृत्ति

व्यक्ति समाज में जीता है। समाज का एक अंग है व्यक्ति। इसीलिए समाज की मनोवृत्ति अर्थात् एक व्यक्ति के बारे में समाज

क्या सोचता है? उसका सीधा असर व्यक्ति पर पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति अच्छा वक्ता है। परन्तु समूह उसके सामने उसकी अवहेलना करता है तो वह अच्छा बोलते हुए भी अपने आपको सही ढंग से पेश नहीं कर पाएगा। वह अपने आपको यथार्थ में एक कमजोर वक्ता के रूप में देखने लगेगा। इसके विपरीत समूह उसे प्रोत्साहित करे तो बोलने की अच्छी कला न होने पर भी अच्छा बोल लेगा। अपने आपको अच्छे वक्ता के रूप में देखेगा।

### \* सामाजिक मानक

प्रत्यक्षण सामाजिक मानक द्वारा भी प्रभावित होता है। प्रत्येक समाज के कुछ मानक या नियम होते हैं, जिनसे व्यक्ति का प्रत्यक्षण प्रभावित होता है। जैसे—हिन्दू समाज में गाय को माता का दर्जा दिया गया है जबकि मुस्लिम समाज में ऐसी मान्यता नहीं है। परिणामस्वरूप गाय का प्रत्यक्षण हिन्दुओं द्वारा एक खास ढंग से होता है जबकि मुसलमानों द्वारा कुछ भिन्न ढंग से किया जाता है।

### \* सामाजिक सुझाव

प्रत्यक्षण पर सामाजिक सुझाव का भी सीधा प्रभाव पड़ता है। जब व्यक्ति किसी चीज का ज्ञान करता है और उस वस्तु के सन्दर्भ में यदि सामाजिक सुझाव दिये गए हों तो वह उसी तरह का ज्ञान करता है, जैसा सामाजिक सुझाव है।

### ३. सांस्कृतिक कारक

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्यक्षण पर सांस्कृतिक कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। इस सन्दर्भ में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रिभर्स तथा बाद में आलपोर्ट पेटीग्रिड एवं सीगाल आदि द्वारा महत्त्वपूर्ण अध्ययन किये गये हैं। रिभर्स द्वारा किये गए अध्ययनों से यह पता चलता है कि पश्चिमी संस्कृति तथा अपश्चिमी संस्कृति के लोगों में भ्रमण की मात्रा तथा दिशा में अन्तर होता है। दूसरे शब्दों में, इन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि अपश्चिमी लोगों में कुछ खास-खास तरह का भ्रम पश्चिमी संस्कृति के लोगों की तुलना में अधिक होता है।

## १.७ इन्द्रिय : आध्यात्मिक आधार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जीता है। वह जिस समाज में जीता है, उसके स्वस्थता की कामना करता है। किसी भी समाज का सदस्य नहीं चाहता कि उसका समाज रुग्ण समाज हो। फिर भी समाज में अनेक बार अनेक रूपों में संघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं। अनेक बार समाज अथवा समाज के सदस्यों को ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जो किसी भी सामाजिक सदस्य के लिए कल्पना से बाहर होती है। हम कारणों की ओर ध्यान दें तो पता चलेगा कि इन समस्याओं की उत्पत्ति का मूल कारण है—समाज के सदस्यों का इन्द्रिय स्तर पर जीना।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार चेतना के तीन स्तर हैं—एन्द्रिय स्तर, मानसिक स्तर एवं अतीन्द्रिय स्तर। व्यक्ति की चेतना पर लगे हुए कर्मों का आवरण जब सघन होता है, तब एन्द्रिय स्तर का विकास होता है। जब यह आवरण पतला होता है तब मानसिक स्तर का विकास होता है और जब चेतना का यह आवरण पूर्ण विलीन हो जाता है, तब अतीन्द्रिय स्तर का विकास होता है। एन्द्रिय स्तर पर जीने वाले व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र-के लिए खतरा पैदा करते हैं। वह छोटी समस्याओं को भी बड़ी कर उलझते रहते हैं। स्वयं परेशान होते हैं और दूसरों को परेशान करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि चेतना के स्तर का विकास हो। व्यक्ति एन्द्रिय स्तर से ऊपर उठे। एन्द्रिय स्तर से ऊपर उठने के लिए आवश्यक है इन्द्रियों के स्वरूप को सही ढंग से समझना तथा इससे ऊपर उठने के उपायों को समझकर जीवन व्यवहार में लागू करना।

### १.७.१ इन्द्रिय : स्वरूप

इन्द्रिय के सन्दर्भ में प्रायः भारतीय दार्शनिकों का एक मत रहा है। प्रायः सभी ने इन्द्रियों को ज्ञान का साधन माना।

‘जैन सिद्धान्त दीपिका’ में इन्द्रिय को परिभाषित करते हुए लिखा गया “प्रतिनियतविषयग्राही इन्द्रियं”। जो अपने-अपने नियत विषय को ग्रहण करती है, वह इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय। जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है, वह स्पर्श इन्द्रिय—त्वचा है। जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है, वह रसन इन्द्रिय—जिह्वा है। जिस इन्द्रिय से सुगंध, दुर्गंध का ज्ञान होता है, वह है घ्राण-इन्द्रिय—नाक है। जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है, वह है चक्षुः इन्द्रिय—आँख और जिस इन्द्रिय से ध्वनि का ज्ञान होता है, वह श्रोत्र-इन्द्रिय—कान है।

जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ अचेतन हैं, मूर्त हैं अर्थात् इन्हें देखा जा सकता है। यह आत्मा की तरह ज्ञाता (पदार्थों को जानने वाला) नहीं अपितु जानने में सहयोगी है। जिस प्रकार गवाक्ष (खिड़की) के द्वारा झाँकने वाला व्यक्ति जिन पदार्थों का ज्ञान करता है, वह गवाक्ष के समीप से हट जाने पर भी उन्हें स्मरण कर सकता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के अभाव में भी व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा अनुभूत पदार्थों का स्मरण कर सकता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ गवाक्ष के समान ज्ञान का साधन हैं।

जैन दर्शन में इन्हीं इन्द्रिय चेतना के आधार पर प्राणियों को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। एक इन्द्रिय वाले—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय वाले—द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रियाँ वाले—त्रीन्द्रिय, चार इन्द्रिय वाले—चतुरिन्द्रिय एवं पाँच इन्द्रियों वाले—पंचेन्द्रिय। इस प्रकार जिन प्राणियों में जितनी इन्द्रियाँ पाई जाती है, वह उतनी इन्द्रियों वाला कहलाता है।

अन्य दार्शनिकों ने भी इन्द्रियों को ज्ञान का कारण माना तथा रसन, घ्राण, चक्षु, त्वचा, श्रोत आदि ज्ञानेन्द्रिय का सम्बन्ध क्रमशः जल, पृथ्वी, तेजस्, वायु और आकाश नामक पाँच महाभूतों से किया है। न्याय वैशेषिक के अनुसार इन पाँच महाभूतों की प्रतिनिधि के रूप में ये ज्ञानेन्द्रियाँ—जीवात्मा और उसके शरीर में विद्यमान रहती हैं। दूसरे शब्दों में पंच महाभूतों से बना हुआ यह शरीर और उसकी इन्द्रियाँ जीवात्मा के लिए वह क्षेत्र और माध्यम है, जिनके द्वारा उसके संस्कार प्रस्फुटित होते हैं और नए संस्कारों का निर्माण होता है। मन की गणना भी इन्द्रिय में की जाती है। मन भी ज्ञान का साधन है, पर स्पर्शन आदि की तरह बाह्य साधन न होकर आंतरिक साधन है। अतः उसे अंतःकरण भी कहते हैं। मन का विषय बाह्य इन्द्रियों की तरह सीमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ केवल रूपी पदार्थों को ग्रहण करती हैं परन्तु मन रूपी-अरूपी सभी पदार्थों को ग्रहण करता है। मन का काम विचार करना है। वह इन्द्रियों द्वारा जाने गए विषयों का आलोचनात्मक ज्ञान करता है। इसीलिए वह इन्द्रिय जैसा कहलाता है। चिंतन में स्वतन्त्र होता है, इसलिए अनीन्द्रिय भी कहलाता है।

## इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति

हमारी पाँच इन्द्रियों में सबसे अधिक ज्ञान शक्ति चक्षुरिन्द्रिय में है। किसी पदार्थ को जानने के लिए उसे उस पदार्थ का स्पर्श करना जरूरी नहीं है। वह रूप के पुद्गलों का स्पर्श किये बिना ही रूप का ज्ञान कर लेती है। जैसे—किसी पेड़ पर आम का फल लगा हुआ है तो आँख दूर से देखकर ही पहचान जाएगी कि वह आम है जो वृक्ष पर दिखाई दे रहा है, उसे छूने की जरूरत नहीं है। इसीलिए आँख (चक्षुरिन्द्रिय) सबसे अधिक ज्ञानशक्ति वाली है। इससे कम पर अन्य तीन इन्द्रियों से ज्यादा ज्ञानशक्ति है—श्रोत्रेन्द्रिय में। जब कोई ध्वनि होती है, हमें कोई आवाज देता है, या हम कुछ सुन रहे होते हैं तब ध्वनि के रूप में शब्द के पुद्गल हमारे कान के भीतर प्रविष्ट होते हैं और हमें सुनाई देता है।

तात्पर्य यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय को अपने विषय को जानने के लिए शब्द के पुद्गलों के स्पर्श की आवश्यकता होती है, इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय की ज्ञान शक्ति को चक्षु की ज्ञान शक्ति से कम माना गया। शेष तीन इन्द्रियाँ केवल अपने विषय के पुद्गलों के स्पर्श मात्र से नहीं जानती अपितु स्पर्श होने के बाद आत्मा अपने प्रदेशों द्वारा उन्हें ग्रहण करती है तभी इन विषयों का ज्ञान होता है। इन तीनों की शक्ति चक्षु और श्रोत्र से कम है।

## १.७.२ इन्द्रिय : प्रकार

इन्द्रिय क्या है? इस प्रश्न के समाधान में प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक एक मत हैं कि—इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं। यह अपने नियत विषय को ग्रहण करती है। परन्तु इन्द्रियों के प्रकारों के सन्दर्भ में कुछ भिन्नता मिलती है। श्री शंकर ने विवेक-चूड़ामणि में स्थूल शरीर के सन्दर्भ के दस इन्द्रियों का उल्लेख किया है—श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनसे अपने विषय का ज्ञान होता है तथा वाक्, पाणि, पैर, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनका कर्मों की ओर झुकाव होता है। यह अपना-अपना कार्य करते हैं, यह क्रियाशील हैं। इस प्रकार शंकर ने इन्द्रियों को दो भागों में विभक्त किया—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा इन दोनों के पाँच-पाँच भेद किये। जैन दर्शन में भी इन्द्रियों के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन मिलता है। वहाँ इन्द्रियों के दो भेद किये गए हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

## १. द्रव्येन्द्रिय

आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना, आकार विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहा गया है। द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद हैं—(i) निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय, (ii) उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

(i) निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय— इन्द्रिय की आकार रचना को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार दो प्रकार के होते हैं—बाह्य

और आभ्यन्तर। बाह्य आकार भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए देखा जाए तो आँख की बाह्य रचना सभी प्राणियों की भिन्न-भिन्न ही पाई जाती है। दो सगे भाइयों की आँखें भी एक-सी नहीं होती। किसी की आँख बड़ी होती है, किसी की छोटी, किसी की गोल, किसी की तिरछी। इस प्रकार सभी इन्द्रियों की बाह्य रचना में भिन्नता होती है, एक समान नहीं होती। कुछ न कुछ अन्तर पाया जाता है। परन्तु आभ्यन्तर (आन्तरिक) आकार सभी जीवों का समान होता है। जैन शास्त्रों में इन्द्रियों के निश्चित आकार का उल्लेख भी मिलता है।

१. श्रोत्रेन्द्रिय का आन्तरिक आकार—कदम्ब के फूल जैसा है।
२. चक्षुरिन्द्रिय का आन्तरिक आकार—मसूर की दाल जैसा है।
३. घ्राणेन्द्रिय का आन्तरिक आकार—अतिमुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा है।
४. रसनेन्द्रिय का आन्तरिक आकार—खुरपे जैसा है।
५. स्पर्शनेन्द्रिय का आन्तरिक आकार—अपने-अपने शरीर के आकार जैसा है।

(ii) **उपकरण द्रव्येन्द्रिय**— इन्द्रियों की आन्तरिक रचना में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की जो पौद्गलिक शक्ति है, उसे उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। जैनागमों में एक तलवार के उदाहरण से द्रव्येन्द्रिय को स्पष्ट किया गया है। एक तलवार की बाह्य आकार रचना—निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय है। तलवार की धार—आभ्यन्तर द्रव्येन्द्रिय है। परन्तु उस तलवार में जो छेदन-भेदन करने की शक्ति है, वह उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। इसे हम एक सामान्य उदाहरण से भी समझ सकते हैं। विद्यार्थी लिखने के लिए कलम का प्रयोग करता है। कलम की आकार रचना बाह्य निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय है। उस कलम के भीतर रिफिल, स्याही है—वह आभ्यन्तर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय वत् तथा उस कलम में जो लिखने की शक्ति है—वह उपकरण द्रव्येन्द्रिय वत् है।

## २. भावेन्द्रिय

इन्द्रिय में अपने विषय को जानने की जो आत्मिक शक्ति है, वह भावेन्द्रिय है। भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं—

### \* लब्धि भावेन्द्रिय

लब्धि का अर्थ है—चेतना की योग्यता। इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं। जब यह चेतना से युक्त होती हैं, तभी अपने विषय का ज्ञान कर सकती हैं। एक मृतक के शरीर की इन्द्रियाँ, विषय सामने होने पर भी उसका ग्रहण नहीं कर सकती। ज्ञान के लिए चेतना की आवश्यकता होती है। अतः एक इन्द्रिय को अपने विषय को जानने की जितनी आत्मिक शक्ति प्राप्त है, वह लब्धि भावेन्द्रिय है।

### \* उपयोग भावेन्द्रिय

उपयोग का अर्थ है—चेतना का कार्य में परिणत होना। कलम है, कलम में लिखने की शक्ति है परन्तु जब तक उसे कोई चेतन शक्ति उठाकर लिखना शुरू न करे, वह लिख नहीं सकता। अतः चेतन शक्ति का व्याप्त होना, कार्य में लगना उपयोग भावेन्द्रिय है। व्यक्ति के रूप में चेतना भी है, कलम भी पड़ा है परन्तु व्यक्ति उसे उठाकर जब तक लिखना शुरू नहीं करता, कलम की शक्ति का कोई महत्त्व नहीं होता। लिखने के लिए चेतना को कार्य करना पड़ता है। चेतना का इस प्रकार इन्द्रिय के माध्यम से कार्य में संलग्न होना उपयोग भावेन्द्रिय है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार किसी विषय का ज्ञान करने के लिए निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग—इन चारों प्रकार की इन्द्रियों का ठीक होना आवश्यक है।

### इन्द्रिय क्षमता के विकास के लिए आवश्यक उपाय

इन्द्रियाँ पाँच हैं और ये पाँचों ही इन्द्रियाँ मनुष्य को चंचल बनाती हैं। कुछ आचार्यों ने कहा—इन्द्रियों से बढ़कर हमारा कोई शत्रु नहीं इसलिए आँख को फोड़ डालो। कान के पर्दे फाड़ डालो, जिससे की यह हमारा कुछ बिगाड़ न सके। गीता में श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

**यदा संहरते चायं कूमोऽङ्गनीव सर्वशः  
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥**

कछुआ जैसे सब ओर से अंगों को समेट लेता है, वैसे ही जब पुरुष इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से हटा लेता है, तभी वह स्थिर बुद्धि कहलाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार भी इन्द्रियाँ साधना के लिए बाधक हैं परन्तु साधना के लिए उन्हें फोड़ दिया जाए यह सही



नहीं है। इन्द्रियाँ बेचारी कुछ नहीं करती, वह तो केवल वासनाओं एवं वृत्तियों को आने के लिए मार्ग का काम करती है। इसलिए दोष इन्द्रियों का नहीं है। दोष हमारा है कि हम उनकी असीम क्षमताओं को जानते नहीं इसलिए उनका उपयोग नहीं कर पाते।

वस्तुतः हमारी पाँचों ही इन्द्रियाँ असीम शक्ति सम्पन्न हैं, परन्तु वे शक्तियाँ सुषुप्त अवस्था में हैं इसलिए हम एक सीमा तक ही ज्ञान कर सकते हैं अथवा बीच में कोई व्यवधान आ जाए तो ज्ञान नहीं कर पाते। इन्द्रिय क्षमता को व्याख्यायित करते हुए जैनागमों में इन्द्रियों की शक्ति को दो भागों में विभक्त किया गया—संभव शक्ति और संभाव्य शक्ति। संभव शक्ति इन्द्रियों की वो शक्ति है, जो इन्द्रियों में निहित है। कई योजन तक प्राणी इस शक्ति से ज्ञान कर सकता है परन्तु बीच में यदि कोई व्यवधान आ जाए तो ज्ञान नहीं हो सकता। संभाव्य शक्ति ऐसी शक्ति है, जिसका विकास होने पर बहुत दूर तक स्थित वस्तु को व्यवधान होने पर भी जाना जा सकता है। यह शक्ति असीम है।

इस शक्ति के जागृत होने पर व्यवधान का कोई अर्थ नहीं रहता। जैसे हम गवाक्ष से सूरज को देखते हैं तो सूरज कई योजन दूर होने पर भी हमें अच्छी तरह दिखाई देता है परन्तु अगर गवाक्ष बन्द कर दिया जाए तो हम सूरज को नहीं देख सकते। गवाक्ष हमारी इन्द्रियों के लिए व्यवधान है। लेकिन संभाव्य शक्ति का विकास होने पर गवाक्ष बन्द किये जाने पर भी सूरज को देखा जा सकता है।

तात्पर्य यही है कि हमारी इन्द्रियों की शक्ति असीम है परन्तु सुषुप्त अवस्था में है। इस शक्ति को साधना के द्वारा विकसित किया जा सकता है। जीवन विज्ञान में इन्द्रिय क्षमता के विकास के लिए कुछ उपाय निर्दिष्ट हैं—

**१. इन्द्रियों का सम्यक् योग**—आचार्य महाप्रज्ञ ने इन्द्रिय प्रवृत्ति के तीन प्रकार बताये—अयोग, अतियोग और योग। इन्द्रियों की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है तथा इन्द्रियों की उचित प्रवृत्ति करना योग है। व्यवहार जगत् में जीने वाला व्यक्ति पूर्णतया अयोगी होकर नहीं जी सकता। उसे अपना जीवन व्यवहार सम्यक् ढंग से चलाने के लिए कुछ प्रवृत्तियाँ करनी अनिवार्य हो जाती हैं। इसके लिए आवश्यक है कि वह अयोगी न बन सके तो अतियोगी भी न बने। वह इन्द्रियों का सम्यक् उपयोग करे। इन्द्रिय प्रवृत्ति के तीसरे प्रकार को अपनाए—योगी बने। योगी का अर्थ बताया गया—इन्द्रियों का सम्यक् उपयोग। इन्द्रियों का सम्यक् उपयोग करने का अर्थ है—इन्द्रिय विषयों का आसेवन करते समय प्रियता और अप्रियता से मुक्त रहना। वर्तमान में प्राप्त विषयों को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं को न जोड़ना। केवल रूप को देखना, केवल शब्द को सुनना, केवल गन्ध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

**२. प्रतिसंलीनता (इन्द्रिय संयम)**—इन्द्रिय क्षमता को विकसित करने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—इन्द्रिय संयम। इन्द्रियों को अपने वश में रखना। वेदों में भी कहा गया—जिस प्रकार सारथी अपने दसों घोड़ों को वश में रखकर चलता है। उसी प्रकार हे मनुष्यों! तुम भी अपने मन द्वारा दसों इन्द्रियों को अपने काबू में रखो। इसके लिए तुम्हें संकल्पवान् होना पड़ेगा। वस्तुतः जो विवेकहीन इन्द्रिय विषयों की ओर भागता है, वह अपना अनिष्ट करता है। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण करता है।

अतः आवश्यक है इन्द्रिय संयम किया जाए। विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध का विच्छेद किया जाए। आँख बंद कर लेना रूप के साथ आँख का सम्बन्ध विच्छेद है। कान बंद कर लेना—शब्द के साथ कान का सम्बन्ध विच्छेद है। इसी प्रकार आहार नहीं करना, स्पर्श नहीं करना, नाक बंद करना क्रमशः रस के साथ रसना का, स्पर्श के साथ स्पर्शन का, गंध के साथ घ्राण का सम्बन्ध विच्छेद है। इसका समय-समय पर प्रयोग करना इन्द्रिय संयम का उपाय है। जीवन विज्ञान में इसके लिए सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा का प्रयोग बताया गया है। जिसके द्वारा एक साथ पाँचों इन्द्रियों का संयम किया जाता है।

---

## बोध-प्रश्न – ३

---

### १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. मनोविज्ञान के सन्दर्भ में इन्द्रियों को समझाइए।
२. प्रत्यक्षण से आप क्या समझते हैं? प्रत्यक्षण को प्रभावित करने वाले कारकों की चर्चा करें।
३. इन्द्रियों का आध्यात्मिक आधार बताएँ।
४. इन्द्रियों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रिय क्षमता के विकास के लिए किन-किन उपायों की आवश्यकता है? स्पष्ट करें।



## इकाई-२

## श्वास, चित्त और मन : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार

### इकाई की रूपरेखा

- २.० उद्देश्य
- २.१ प्रस्तावना
- २.२ श्वास : मनोवैज्ञानिक आधार
  - २.२.१ श्वास क्या है ?
  - २.२.२ श्वसन प्रक्रिया
- २.३ श्वास : आध्यात्मिक आधार
  - २.३.१ श्वास : स्वरूप
  - २.३.२ श्वास : प्रकार
  - २.३.३ श्वास : महत्त्व
  - २.३.४ श्वास शुद्धि की प्रक्रिया
- २.४ चित्त और मन : मनोवैज्ञानिक आधार
  - २.४.१ चित्त और मन का स्वरूप
    - २.४.१.१ चित्त और मन फ्रायड की अवधारणा
    - २.४.१.२ चित्त और मन : युंग की अवधारणा
  - २.४.२ मानसिक स्वास्थ्य
  - २.४.३ मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण
- २.५ चित्त : आध्यात्मिक आधार
  - २.५.१ चित्त का स्वरूप
  - २.५.२ चित्त के प्रकार
  - २.५.३ चित्त शुद्धि की प्रक्रिया
- २.६ मन : आध्यात्मिक आधार
  - २.६.१ मन का स्वरूप
    - २.६.१.१ मन के कार्य
    - २.६.१.२ मन की अवस्थाएँ
  - २.६.२ चित्त और मन में अन्तर
  - २.६.३ मन असंतुलन के कारण
  - २.६.४ मानसिक स्वास्थ्य के सूत्र

### २.० उद्देश्य

‘श्वास, चित्त और मन : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार’ इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- \* श्वास के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों के विचारों को जान सकेंगे।
- \* अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में श्वास एवं श्वास-शुद्धि के उपायों को समझ सकेंगे।
- \* चित्त और मन के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- \* मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षणों को जान सकेंगे।
- \* चित्त और मन के सन्दर्भ में प्रदत्त आध्यात्मिक अवधारणाओं से अवगत हो सकेंगे।
- \* चित्त और मन के अन्तर को समझ सकेंगे।
- \* चित्त शुद्धि एवं मानसिक स्वास्थ्य के सूत्रों को जान सकेंगे।

## २.१ प्रस्तावना

जीवन के विभिन्न घटकों में श्वास, चित्त और मन का भी स्थान है। स्वस्थ एवं संतुलित जीवन यापन करने के लिए इन तीनों की भी विस्तृत जानकारी आवश्यक है। इस यथार्थ को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत इकाई में श्वास, चित्त और मन का मनोविज्ञान एवं अध्यात्म दोनों के परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जा रहा है।

## २.२ श्वास : मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य का जीवन प्रवृत्ति का जीवन है। वह चौबीस घंटे कुछ-न-कुछ क्रियाएँ करता ही रहता है। इन क्रियाओं को मनोवैज्ञानिकों ने दो भागों में विभक्त किया है—ऐच्छिक क्रियाएँ और अनैच्छिक क्रियाएँ।

व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अच्छे प्रकार से विचार करके जिन क्रियाओं को करता है, वह ऐच्छिक क्रियाएँ कहलाती हैं। यह स्वयं संचालित नहीं वरन् ये व्यक्ति के नियंत्रण में रहती हैं। व्यक्ति स्वयं यह जानकर की ऐसा करना अच्छा है, कार्य करता है। ये क्रियाएँ अर्जित होती हैं। अनैच्छिक क्रियाएँ वे हैं, जिन पर व्यक्ति का नियंत्रण नहीं रहता। ये क्रियाएँ व्यक्ति जान-बूझकर चेतन रूप से नहीं करता अपितु ये अपने आप अचेतन रूप से संचालित होती रहती हैं। ये अनर्जित एवं अनसीखी होती हैं। ये क्रियाएँ हमारे शरीर को जीवित रखने के लिए परमावश्यक होती हैं। हमारे द्वारा की जाने वाली श्वसन क्रिया भी अनैच्छिक क्रिया का ही एक उदाहरण है।

### २.२.१ श्वसन क्या है ?

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार श्वसन एक अनैच्छिक क्रिया है। इसके लिए व्यक्ति को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह स्वतः आता जाता रहता है। परन्तु हम उस समय इसकी ओर ध्यान देने में बाध्य हो जाते हैं, जब इसमें किसी प्रकार की रुकावट या बाधा उत्पन्न हो जाती है। यह एक ऐसी क्रिया है, जिसके रुकते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है। श्वसन क्रिया का संचालन स्वयं संचालित नाड़ी मण्डल (ऑटोनामिक नर्वस सिस्टम) द्वारा होता है। श्वसन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. श्वास एक अनैच्छिक क्रिया है।
२. यह एक नैसर्गिक अर्थात् जन्मजात क्रिया है। जन्म के साथ ही यह क्रिया शुरू रहती है।
३. श्वसन क्रिया का मुख्य उद्देश्य प्राणी की जीवन रक्षा करना होता है।
४. श्वसन क्रिया के लिए किसी विशेष उद्दीपक का होना आवश्यक नहीं है। जैसे—लार टपकने के लिए खाना रूपी विशेष उद्दीपक की आवश्यकता होती है, वैसे—श्वसन के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है। यह स्वतः चलता रहता है।
५. तंत्रिका तंत्र का एक प्रमुख भाग स्वायत्तशासी तन्त्र ही इसका संचालक है।
६. इस क्रिया के सम्पादन में एक विशेष तन्त्र श्वसन तन्त्र ही भाग लेता है।

### २.२.२ सामान्य श्वसन प्रक्रिया

मनुष्य के शरीर में विभिन्न तंत्र हैं। भिन्न-भिन्न तंत्र भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादित करते हैं। श्वसन तंत्र का मुख्य कार्य है श्वसन क्रिया का सम्पादन करना। श्वसन तंत्र के मुख्य अवयव हैं—नाक, फेफड़े, श्वसनिकाएँ, श्वास प्रकोष्ठ आदि। मनुष्य नाक की सहायता से बाह्य वातावरण से हवा ग्रहण करता है। इस हवा में शरीर के लिए आवश्यक गैस ऑक्सीजन होती है। नाक द्वारा गृहीत ऑक्सीजन को श्वसन-तन्त्र के विभिन्न अवयव मिलकर शरीर की कोशिकाओं तक भेज देते हैं। कोशिकाएँ ऑक्सीजन ग्रहण करती हैं तथा शरीर के लिए अनुपयोगी कार्बन-डाई-ऑक्साइड को वापस श्वसन-तन्त्र तक पहुँचा देती है। नाक के द्वारा उस अनुपयोगी गैस को बाहर फेंक दिया जाता है। इस प्रकार श्वास की यह ग्रहण एवं विसर्जन की प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार श्वसन की यह प्रक्रिया अनैच्छिक है। इसमें चेतन मन का कोई हाथ नहीं रहता। फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में इस सामान्य रूप से चल रही प्रक्रिया में अन्तर पाया जाता है, जिन्हें हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं—

## श्वसन गति में संवेग के कारण परिवर्तन

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यद्यपि सांस एक अनैच्छिक क्रिया है, इसे सीखा नहीं जाता। यह अचेतन रूप में अपने आप चलता रहता है फिर भी बाह्य परिस्थितियों से व्यक्ति के भीतर संवेग उत्पन्न होने पर इसकी गति में भी परिवर्तन होता है। प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि जब हमें कोई संवेगात्मक अनुभव होता है तो हमारे शरीर में कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। ये परिवर्तन आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के होते हैं।

संवेग की अवस्था में प्रायः सांस की गति में परिवर्तन आ जाता है। सांस की गति में परिवर्तन होना आन्तरिक परिवर्तन है। वह सामान्य अवस्था की अपेक्षा या तो तेज हो जाता है या मन्द पड़ जाता है। विभिन्न प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि अवसाद (डिप्रेशन) या दुःख की अवस्था में सांस की गति धीमी हो जाती है। परन्तु जब कोई व्यक्ति क्रोध या भय की अवस्था में होता है तो सांस की गति तीव्र हो जाती है। उत्साह, खुशी, प्रफुल्लित अवस्था में भी सांस तेज हो जाती है। वस्तुतः शरीरक्रिया मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेग अनेक हैं—प्रेम, हर्ष, घृणा, क्रोध, दुःख, सुख आदि। ये संवेग स्वयं संचालित नाड़ी मण्डल को प्रभावित करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप स्वयं संचालित नाड़ी-मण्डल के दो भाग अनुकम्पी नाड़ी-मण्डल एवं परानुकम्पी नाड़ी मण्डल सक्रिय हो जाते हैं। यदि अनुकम्पी नाड़ी मण्डल सक्रिय होता है तो श्वास की गति तेज हो जाती है और यदि परानुकम्पी नाड़ी-मण्डल सक्रिय होता है तो श्वास की गति मन्द हो जाती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों के अनुसार श्वास यद्यपि एक जन्मजात, अनसीखी क्रिया है, परन्तु विभिन्न संवेगों की अवस्था में इसकी गति पर प्रभाव पड़ता है।

### श्वसन प्रक्रिया पर मन का प्रभाव

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहता है। समाज में रहते हुए उसके जीवन में अनेक सम अथवा विषम परिस्थितियाँ आती रहती हैं तो कभी-कभी उसे व्यक्तिगत समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वह बहुत बार शारीरिक या मानसिक रूप से विकारों से ग्रस्त हो जाता है। मन की बीमारी जो शरीर के द्वारा अभिव्यक्त होती है, उन बीमारियों को मनोवैज्ञानिक मनोदैहिक बीमारी अथवा मनोदैहिक विकृतियाँ कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने श्वसन-प्रक्रिया की स्वस्थता अथवा अस्वस्थता के कारण के रूप में मन की अहम् भूमिका को स्वीकार किया है। दमा, सर्दी-जुकाम यद्यपि शारीरिक बीमारियाँ हैं परन्तु मनोवैज्ञानिकों ने इनके पीछे कारण के रूप में मन का विकृत होना ही माना है।

दमा श्वसन-तंत्र की एक ऐसी बीमारी है, जिसमें श्वास सम्यक् ढंग से नहीं आता। परन्तु इस बीमारी के लिए केवल श्वसन-तंत्र के अवयव फेफड़े, श्वसनिकाएँ आदि ही जिम्मेवार नहीं हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार दमा उन व्यक्तियों को ज्यादा होता है, जो कंजूस प्रकृति वाले होते हैं, जिन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना ज्यादा करना पड़ता है, जिनके भीतर सहानुभूति, प्रेम पाने की आकांक्षा बनी रहती है तथा वे लोग जो अपने क्रोध एवं चिन्ता को भीतर ही भीतर दबाते रहते हैं, वे दमा के शिकार हो जाते हैं। श्वसन-तंत्र की अन्य बीमारी सर्दी-जुकाम भी उन लोगों को अधिक होती है, जिनके भीतर कुण्ठा की भावना है, जिनमें अधिक चिड़चिड़ापन है अथवा जो दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों के अनुसार श्वास मनुष्य जीवन का एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी तत्त्व है। परन्तु यह मनुष्य के मन, भाव और संवेगों से प्रभावित होता रहता है। मन और संवेगों की विकृति इसे भी विकृत कर देती है। मन की चंचलता इसे भी चंचल बना देती है।

---

## २.३ श्वास : आध्यात्मिक आधार

---

### २.३.१ श्वास : स्वरूप

जीवन के सात अंगों में से एक है—श्वास। श्वास शरीर की ही एक क्रिया है। मनुष्य खाए बिना लम्बे समय तक जीवित रह सकता है परन्तु श्वास लिए बिना घंटों तो दूर कुछ पल भी जीवित नहीं रह सकता। इसीलिए श्वास और जीवन को एकार्थक कहा गया है। जब तक श्वास रहता है, तब तक जीवन रहता है और जब तक जीवन रहता है, तब तक श्वास रहता है। श्वास जीवन के अन्य अंग—शरीर, प्राण, मन, भाव आदि को भी प्रभावित करता है। प्रत्येक प्राणधारी के जीवन में श्वास का बड़ा महत्त्व है, इसीलिए श्वास को समझना बहुत जरूरी है।

अध्यात्माचार्यों ने श्वास के सन्दर्भ में विशेष चर्चा की है तथा संतुलित एवं आध्यात्मिक जीवन यापन करने हेतु श्वास को साधने पर बल दिया है।

### २.३.२ श्वास के प्रकार

यद्यपि श्वास तो श्वास है, जो अपने आप जीवन पर्यन्त चलता रहता है। जीवन रूपी दीपक के बुझने पर श्वास भी बन्द हो जाता है या यों भी कहा जा सकता है कि श्वास के बन्द होने पर जीवन समाप्त हो जाता है। प्रश्न हो सकता है, फिर श्वास के प्रकार से क्या तात्पर्य है? वस्तुतः अध्यात्माचार्यों ने एक ही श्वास को अवस्था भेद के आधार पर दो भागों में विभक्त किया है— १. सहज श्वास, २. प्रयत्न जनित श्वास।

**१. सहज श्वास**— जो श्वास सामान्य रूप से बिना किसी प्रयत्न विशेष के दिन-रात चलता रहता है, वह सहज श्वास है। सहज श्वास के लिए किसी भी प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति को १६ से १९ तक जो श्वास आते हैं, वह सहज श्वास है।

**२. प्रयत्नजनित श्वास**— सहज श्वास की गति में परिवर्तन लाने के लिए जब किसी प्रकार का प्रयत्न किया जाता है, तब उस प्रयत्नपूर्वक परिवर्तित किये गए श्वास को प्रयत्नजनित श्वास कहते हैं। प्रयत्न द्वारा श्वास को दीर्घ अथवा लयात्मक बनाया जा सकता है। प्रयत्न के आधार पर श्वास के दो प्रकार किये गए हैं—दीर्घश्वास और समवृत्ति श्वास। यदि श्वास लेते समय हसली, पसली एवं तनुपट का प्रयोग किया जाता है तो वह दीर्घश्वास कहलाता है तथा एक नथुने से श्वास भीतर लेकर दूसरे नथुने से बाहर निकालना तथा फिर उसी से भीतर लेकर पहले नथुने से बाहर निकालना समवृत्ति श्वास कहलाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने श्वास के छह प्रकारों का उल्लेख किया है—

१. सामान्य श्वास—सामान्य श्वास सहज श्वास है।
२. पूर्ण श्वास—पूर्ण श्वास का अर्थ दीर्घश्वास है।
३. क्षुब्ध श्वास—परिश्रम, उद्वेग तथा शारीरिक बीमारी, हिंसा आदि आवेग की स्थिति में श्वास की मात्रा बढ़ जाती है, यह क्षुब्ध श्वास है।
४. शांत श्वास—आवेश-आवेग के अभाव में श्वास शांत रहता है।
५. सूक्ष्म श्वास—शांत श्वास से ही सूक्ष्म श्वास तक पहुंचा जा सकता है।
६. निरुद्ध श्वास—श्वास की अन्तिम एवं उत्कृष्ट अवस्था है। समाधि की अवस्था में श्वास निरुद्ध हो जाता है।

### २.३.३ श्वास : महत्त्व

योग के आचार्यों ने मन को वश में करने का उपाय बताया है—श्वास। श्वास ही एक ऐसा तत्त्व है, जो बाहर भी आता है और भीतर भी जाता है। दूसरा ऐसा कोई भी साधन नहीं है, जो बाहर भी रहे, भीतर भी रहे। यह एक ऐसा मजबूत स्तम्भ है, जिसे पकड़ते ही मन पकड़ में आ जाता है। मन की चंचलता मिट जाती है। ध्यान के आलम्बन के रूप में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं—हमारे शरीर के भीतर चलने वाले तंत्रों और क्रियाओं का नियंत्रण दो प्रकार से होता है—ऐच्छिक रूप से और स्वतः संचालित रूप से। हाथ-पैर आदि का संचालन स्वतः न होकर ऐच्छिक रूप से होता है। तो दूसरी ओर पाचन तंत्र, रक्त परिसंचरण तंत्र आदि तंत्रों का नियंत्रण ऐच्छिक न होकर स्वतः संचालित होता है। परन्तु श्वास एक ऐसी क्रिया है, जिसका नियंत्रण स्वतः संचालित रूप से भी होता है और ऐच्छिक रूप से भी होता है। श्वास पर नियंत्रण पाने वाला अपने जीवन को न केवल शारीरिक दृष्टि से अपितु मानसिक एवं भावनात्मक दृष्टि से भी स्वस्थ बना लेता है।

शरीर क्रिया-विज्ञान के अनुसार मनुष्य श्वास के साथ ऑक्सीजन ग्रहण करता है। यह ऑक्सीजन शरीर के लिए एक अत्यन्त उपयोगी तत्त्व है, जिसे श्वसन-क्रिया द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिका तक पहुंचाया जाता है। शरीरशास्त्र की दृष्टि से श्वास न हो तो हमारी मांसपेशियाँ गति नहीं करती, हमारे शरीर में क्षमता नहीं होती। हमारे दिमाग के तन्तु मृतप्रायः हो जाते हैं। हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। आदमी मर जाता है। श्वास को नियंत्रित करने वाला व्यक्ति अपनी स्नायविक शक्ति को बढ़ाता है। हृदय के कार्य भार में कमी करता है। रक्तचाप में होने वाली अनावश्यक वृद्धि को रोकता है।

अध्यात्माचार्यों के अनुसार पूरा ब्रह्माण्ड प्राण-ऊर्जा से भरा हुआ है। यह प्राण-ऊर्जा श्वास के साथ ही शरीर के भीतर पहुंचती है। शरीर के संचालन में प्राण ऊर्जा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। परन्तु इस महत्त्वपूर्ण ऊर्जा 'प्राण' को भी काम करने के लिए श्वास के साथ आने वाली ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। श्वास समूचे शरीर रूपी यन्त्र के संचालन के लिए इन्धन देता है, अतः श्वास जीवन का एक मूल्यवान पक्ष है। अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में श्वास के महत्त्व को निम्न बिन्दुओं में विभक्त किया जा सकता है—

**(i) चेतना का उर्ध्वारोहण-** श्वास चेतना को उर्ध्वगामी बनाने वाला एक महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसकी चेतना श्वास को देखने लगती है। उसकी चेतना को बाह्य पदार्थ आकृष्ट नहीं कर सकते। उसका मन भौतिक चीजों से हटकर अपनी ओर आकृष्ट हो जाता है।

**(ii) अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति-** चंचलता साधना में बाधक है। चंचल व्यक्ति इन्द्रियों से परे नहीं जा सकता। चंचलता का मुख्य कारण है—श्वास। श्वास पर विजय प्राप्त करने वाला चंचलता पर विजय प्राप्त कर लेता है। चंचलता को जीतने वाला इन्द्रियों से परे चला जाता है। परिणामस्वरूप उसका अतीन्द्रिय ज्ञान जागृत होने लगता है।

**(iii) जागरूकता-** जो अपनी चेतना को श्वास के साथ जोड़ने का प्रयास करता है, उसकी जागरूकता बढ़ने लगती है। वह आलस्य एवं अजागरूकता से दूर चला जाता है, क्योंकि श्वास को देखने से मन श्वास में लीन हो जाता है, जिसके कारण दूसरे विचार बन्द हो जाते हैं। अनावश्यक विचार बन्द होने से जागरूकता अपने आप ही बढ़ जाती है।

**(iv) भावात्मक परिष्कार-** काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि नकारात्मक भाव आज की सबसे बड़ी समस्याएँ हैं। यदि श्वास शांत होता है तो इनकी तरंगें नहीं उभरतीं। श्वास को शांत रखने वाला इन नकारात्मक भावों को भी नियंत्रित कर लेता है।

### २.३.४ श्वास शुद्धि की प्रक्रिया

श्वास हमारे शरीर की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। मनुष्य के जीवन में इसका महत्त्व केवल शारीरिक दृष्टि से ही नहीं अपितु साधना की दृष्टि से भी है। इसीलिए इसे नियंत्रित करना जरूरी है। जीवन विज्ञान में श्वास को नियंत्रित या शुद्ध करने के कुछ उपाय निर्दिष्ट किये गए हैं— १. प्राणायाम, २. समताल श्वास, ३. दीर्घश्वास प्रेक्षा, ४. कायोत्सर्ग।

**१. प्राणायाम-** प्राणवायु के विस्तार को प्राणायाम कहते हैं। उसके तीन अंग हैं—पूरक, रेचन और कुम्भक। हम प्राणवायु को नथुनों द्वारा खींचकर नाभि तक ले जाते हैं, वह पूरक है। प्राण को नाभि से उठाकर नथुनों द्वारा बाहर ले जाते हैं, वह रेचन है तथा जिस अवस्था में प्राणवायु का ग्रहण और विसर्जन नहीं करते, श्वास को रोककर रखते हैं, वह कुम्भक है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं किन्तु श्वास-शुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष उपाय अनुलोम-विलोम प्राणायाम है। इसे समवृत्ति श्वास प्रेक्षा भी कहते हैं। इसमें एक नथुने से श्वास भीतर लेकर दूसरे नथुने से बाहर निकाला जाता है तथा फिर उसी से भीतर लेकर पहले नथुने से बाहर निकाला जाता है।

**२. समताल श्वास-** श्वास-शुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण उपाय समताल श्वास है। जितने समय में पहला श्वास लिया गया, उतने ही समय में दूसरा, तीसरा आदि श्वास लेना और छोड़ना समताल श्वास कहलाता है। श्वास जितना लयबद्ध होता है, उतना ही उसका प्रभाव होता है। लयबद्ध श्वास को ही समताल श्वास कहा जाता है।

**३. दीर्घश्वास प्रेक्षा-** लम्बा श्वास लेना, लम्बा श्वास छोड़ना दीर्घश्वास कहलाता है। इसमें हसली, पसली और डायफ्राम—इन तीनों का उपयोग किया जाता है। इससे छोटा श्वास लम्बा व दीर्घ होता है। श्वास जितना लम्बा होता है, उतना ही शुद्ध होता चला जाता है।

**४. कायोत्सर्ग-** शरीर की चंचलता का विसर्जन, शरीर के ममत्व का विसर्जन कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग से शरीर की चंचलता कम होती है। चंचलता के अभाव में श्वास सम्यक् होता है। कायोत्सर्ग श्वास संयम की प्रक्रिया है। जैसे-जैसे काया की स्थिरता बढ़ती है, वैसे-वैसे श्वास का संयम स्वतः होने लगता है। इसका शरीर शास्त्रीय कारण यह है कि हमारी हर प्रवृत्ति एसिड उत्पन्न करती है। प्रवृत्ति का मतलब है—विषमता और निवृत्ति का मतलब है—समता। शरीर की प्रवृत्ति से कार्बन-डाई-ऑक्साइड अधिक बनता है और उसे निकालने के लिए श्वास को तेज होना पड़ता है। कायोत्सर्ग श्वास को सन्तुलित रखने का उपाय है। जैसे ही शरीर की निवृत्ति होती है, शरीर की सारी धातुएँ सम हो जाती हैं और धातुओं के सम होते ही एसिड की मात्रा कम हो

जायेगी और उसे निकालने के लिए श्वास को उतना ही कम प्रयत्न करना पड़ता है। अतः श्वास संयम से मन और शरीर शान्त तथा तनाव मुक्त रहते हैं। श्वास पर ध्यान केन्द्रित होने से क्रोध आदि आवेश और आवेग को प्रकट होने का मौका भी नहीं मिलता। इस प्रकार प्राणायाम, समताल श्वास, दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग-श्वासशुद्धि के महत्त्वपूर्ण उपाय हैं।

## बोध-प्रश्न - १

### १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये-

१. श्वास के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत करें।
२. श्वास के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए श्वास-शुद्धि की प्रक्रिया को विस्तार से समझाएँ।
३. श्वास के सन्दर्भ में अध्यात्माचार्यों के विचार प्रस्तुत करें।

## २.४ चित्त और मन : मनोवैज्ञानिक आधार

### २.४.१ चित्त और मन : स्वरूप

चित्त और मन दर्शन जगत् के दो प्रचलित शब्द हैं। मनोविज्ञान में इन दो शब्दों के मध्य स्पष्ट भेदरेखा नहीं मिलती। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार चेतना एक अन्तिम सत्य है अतः इसको परिभाषित करना बहुत कठिन है। केवल इसका वर्णन किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में चेतना की कुछ विशेषताओं पर विचार किया गया है तथा चेतना की ही विभिन्न अवस्थाओं को 'मन' (चेतन मन, अवचेतन मन, अचेतन मन) के रूप में स्वीकार किया गया है।

### चेतना की विशेषताएँ

मनोवैज्ञानिक जेम्स के अनुसार चेतना में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं-

\* **चेतना : व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखती है**-चेतना सदैव किसी प्राणी के ही होती है, चाहे वह पशु हो या मानव। जड़ पदार्थ के चेतना नहीं होती।

\* **चेतना निरन्तर परिवर्तित होती रहती है**-जेम्स चेतना को एक नदी के समान मानते हैं। नदी का पानी जैसे प्रतिक्षण बदलता रहता है, उसी प्रकार चेतना भी बदलती रहती है। हम एक क्षण एक वस्तु, घटना अथवा विचार के सम्बन्ध में चेतन होते हैं तो दूसरे ही क्षण यह बदल जाता है।

\* **प्रत्येक व्यक्तिगत चेतना के अन्तर्गत अर्थपूर्ण ढंग से विचार निरन्तर रहता है**-हमारी मानसिक क्रियाओं में निरन्तरता सदैव बनी रहती है। ये क्रियाएँ कहीं टूटती नहीं हैं। किसी विषय-वस्तु के बारे में हमें चेतना इस प्रकार नहीं होती कि अभी विचार इस वस्तु के सम्बन्ध में था और कुछ देर बाद उस सम्बन्ध में टूट गया। जब हम सोकर उठते हैं, तो हमें याद होता है कि हम यहीं सोये थे और हम अपने आस-पास की अन्य वस्तुओं को शीघ्र ही पहचान लेते हैं।

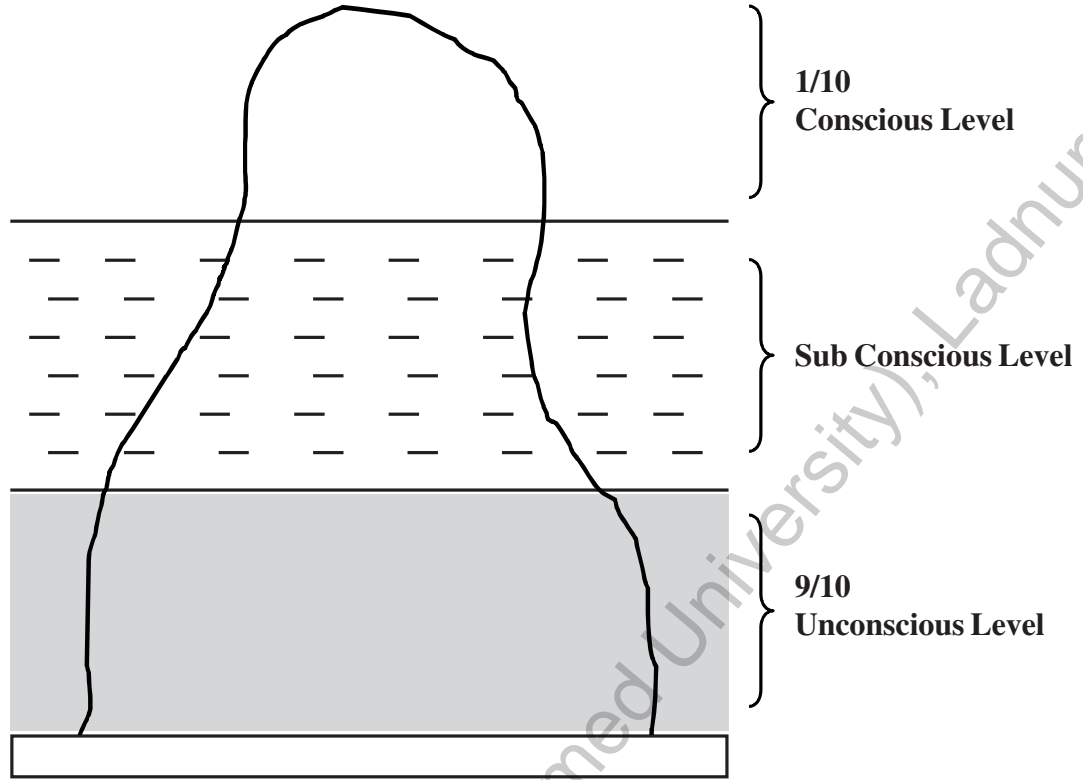
\* **चेतना : चयनात्मक होती है**-हमारी चेतना उसी पर केन्द्रित होती है, जिसमें हमारी रुचि हो अथवा जो हमारी मूल आवश्यकता हो। इसी आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने चेतना को चयनात्मक माना है।

### २.४.१.१ फ्रायड की अवधारणा

फ्रायड से पूर्व भी अनेक मनोवैज्ञानिकों ने चेतना को परिभाषित एवं व्याख्यायित करने का प्रयास किया था परन्तु फ्रायड ने उसे ओर अधिक स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित ढंग से जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। फ्रायड ने मन एवं चित्त में भेद रेखा न खींचते हुए चेतना को ही तीन भागों में विभक्त किया तथा उन तीनों स्तरों को चेतन मन, अवचेतन मन, अचेतन मन की संज्ञा दी। फ्रायड ने चेतना के इन तीन स्तरों की तुलना पानी में तैरते हुए हिम खण्ड से की। पानी में हिमखण्ड तैरता है तो उसका १/१०वां भाग पानी के बाहर होता है तथा ९/१० वां भाग पानी के भीतर। उसी प्रकार मन का जितना भाग बाहर होता है, प्रकाश में रहता है, उतने भाग को फ्रायड ने चेतन मन तथा शेष भाग को अवचेतन और अचेतन मन का स्तर माना है।

१. **चेतन मन**- चेतना का वह स्तर जो सबसे स्पष्ट होता है, चेतन स्तर कहलाता है। इसी स्तर को हम 'चेतना का केन्द्र'





भी कहते हैं। इस केन्द्र में जो विचार आते हैं, उन्हें हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। फ्रायड के अनुसार चेतन से तात्पर्य मन के उस भाग से है, जिसमें वे सभी अनुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ होती हैं, जिनका संबंध वर्तमान से होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो वे क्रियाएँ, जिनका ज्ञान व्यक्ति को वर्तमान समय में रहता है, वे चेतन मन के अन्तर्गत आती हैं। जैसे—लिखते समय लेखक के मस्तिष्क में लेखन सम्बन्धी तथा खेलते समय खेलने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क में खेल सम्बन्धी बातें या विचार चेतन में रहते हैं।

**२. अवचेतन मन-** अवचेतन से तात्पर्य वैसे मानसिक स्तर से होता है, जो सचमुच न तो पूर्णतः चेतन होता है और न ही पूर्णतः अचेतन। इसमें वैसी इच्छाएँ, विचार या भाव आदि होते हैं, जो वर्तमान चेतन या अनुभव में नहीं होते हैं परन्तु प्रयास करने पर वे हमारे चेतन मन में आ जाते हैं। उदाहरण स्वरूप दो दिन पहले हम कहां थे? हमने क्या किया? तत्काल याद नहीं आता परन्तु थोड़ी देर सोचने के बाद वे बातें याद आ जाती हैं, जिन्हें हमने दो दिन पहले किया था। वे सारी बातें, विचार जिन्हें हम वर्तमान में भूल जाते हैं परन्तु याद करने पर याद आ जाती हैं, वे सभी विचार अवचेतन से ही चेतन स्तर पर लाये जाते हैं।

**३. अचेतन मन-** चेतन तथा अवचेतन से नीचे का स्तर अचेतन है। यह मन का सबसे गहरा स्तर है। जो भी विचार चेतन तथा अवचेतन मन से ढकेल दिया जाता है, वह यहीं पहुंच जाता है। यह एक भंडारघर के समान हैं, जहाँ सब प्रकार का सामान, जिसकी उस समय-विशेष पर कोई आवश्यकता नहीं रहती, इकट्ठा रहता है। जो विचार, भाव, इच्छा, कामना इत्यादि दमित कर दिए जाते हैं, वे सब अचेतन मन में पहुंच जाते हैं और वहाँ अस्त-व्यस्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। ये सब चेतन मस्तिष्क में तो नहीं आ पाते हैं परन्तु वहीं से व्यक्ति के व्यवहारों पर प्रभाव डालते रहते हैं। फ्रायड के अनुसार अचेतन मन में रहने वाले विचार एवं इच्छाओं का स्वरूप कामुक, असामाजिक, अनैतिक तथा घृणित होता है, जिन्हें दिन-प्रतिदिन की जिन्दगी में पूरा करना संभव नहीं होता है, अतः उन्हें चेतन से हटाकर अचेतन में दमित कर दिया जाता है। अचेतन मन की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. इसकी प्रकृति परिवर्तनशील और गत्यात्मक होती है।
२. यह मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करता है।
३. अचेतन मन की अभिव्यक्ति शब्दों के स्थान पर व्यक्ति के हाव-भाव से प्रकट होती है।
४. इसकी क्रियाएँ किसी भी समय हो सकती हैं।
५. अचेतन मन का स्वरूप शिशु के समान होता है।

## २.४.१.२ युंग की अवधारणा

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड के पश्चात् एक और महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक हुए, जिनका नाम था— कार्ल गुस्ताव युंग। यद्यपि युंग के विचार फ्रायड के विचारों से साम्यता रखते थे परन्तु बहुत हद तक उनके विचार फ्रायड से भिन्न भी थे।

युंग ने चित्त को एक पूर्ण मनोवैज्ञानिक इकाई माना है, जिसके दो संभाग हैं— प्रथम संभाग को चेतन तथा द्वितीय संभाग को अचेतन कहा है। युंग के अनुसार चित्त के उक्त दोनों संभाग चेतन तथा अचेतन यद्यपि गुण धर्म की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न एवं विरोधी हैं तथापि ये दोनों संभाग चित्त के ही खण्ड हैं, जो परस्पर जुड़े हुए हैं अतः दोनों ही संभाग एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के परस्पर सामंजस्य के द्वारा ही चित्त की इकाई व्यवस्था बनी रह सकती है।

इस प्रकार युंग के विचारों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन के सन्दर्भ में युंग के विचार फ्रायड से काफी भिन्न हैं। युंग ने अपनी पद्धति को स्पष्ट करते हुए फ्रायड द्वारा प्रयुक्त शब्द 'मन' के बजाय नवीन संज्ञा 'चित्त' का उपयोग किया है। युंग के अनुसार फ्रायड ने चेतन (conscious) तथा मन (mind) का समान अर्थों में प्रयोग किया है। अतः अचेतन के द्वारा होने वाले घटनाक्रम को चेतन या मन का संभाग कहा जाना उचित नहीं है, क्योंकि अचेतन स्तर प्रायः चेतन स्तर अथवा मन की पकड़ से परे है। इस प्रकार युंग ने अचेतन संभाग को अचेतन मन न कहकर अचेतन चित्त की संज्ञा दी।

युंग के विचारों में अचेतन के सन्दर्भ में एक ओर मतभेद पाया जाता है। फ्रायड के अनुसार 'अचेतन' मन का वह संभाग है, जहाँ पर व्यक्ति अपने शैशवकालीन कामुक वृत्तियों को समाज द्वारा असंगत पायी जाने के फलस्वरूप प्रायः अन्दर की ओर धकेल देता है। फ्रायड के अनुसार अचेतन खण्ड में दमित, उपेक्षित तथा समाज द्वारा तिरस्कृत, अवांछनीय एवं अशोभनीय वृत्तियों का ही जमाव होता है, जिसका मानवीय विकास की दृष्टि से कोई सार्थक उपयोग नहीं किया जा सकता।

किन्तु मनोवैज्ञानिक युंग के अनुसार 'अचेतन' चित्त का वह संभाग है, जिसका उपयोग मानवीय विकास की दृष्टि से भी किया जा सकता है। युंग के अनुसार अचेतन चित्त में व्यक्ति केवल अपने वैयक्तिक भूतकालीन अनुभवों को ही संग्रहीत नहीं करता अपितु वह अपने पूर्वजों, प्रजाति तथा सम्पूर्ण मानव जाति द्वारा भोगे हुए अनुभवों को बीज की तरह अव्यक्त रूप से संग्रहित रखता है, जो यदा-कदा अचेतन स्तर से चेतन स्तर पर स्वतः उभर कर व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं तथा मानवीय विकास की दृष्टि से भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं। यह ज्ञान एवं अनुभवों का प्रकाशयुक्त रत्न भण्डार है। इस प्रकार चित्त और मन के सन्दर्भ में फ्रायड एवं युंग के विचारों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड ने चेतना को तीन स्तरों में विभक्त कर चेतन, अचेतन तथा अचेतन मन के रूप में स्वीकार किया है, तो युंग ने चित्त को एक मनोवैज्ञानिक इकाई के रूप में परिभाषित करते हुए इसके दो भाग के रूप में चेतन तथा अचेतन चित्त को स्वीकार किया है।

## २.४.२ मानसिक स्वास्थ्य

शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। जब-जब मन अस्वस्थ होता है, तब-तब उसका प्रभाव शारीरिक बीमारियों के रूप में भी प्रकट होता हुआ पाया जाता है। अतः मानसिक रूप से स्वस्थ होना बहुत जरूरी है। मानसिक रूप से स्वस्थ रहने के लिए मानसिक स्वास्थ्य क्या है? इसे समझना जरूरी है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार एक व्यक्ति की मानसिक परिपक्वता ही उसके मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक है अथवा मानसिक परिपक्वता ही व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य की कसौटी होती है। मानसिक परिपक्वता की पहचान के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कुछ विशेषताएँ निर्दिष्ट की हैं, जो निम्नलिखित हैं—

### मानसिक स्वास्थ्य अथवा परिपक्वता की विशेषताएँ

१. **संवेगात्मक परिपक्वता**— मानसिक स्वस्थता की सबसे प्रमुख विशेषता है—सांवेगिक परिपक्वता। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अनुकूल अथवा प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति में अपने संवेगों से प्रभावित नहीं होता। वह न दुःख की स्थिति में अधिक दुःखी होता है और न सुख में अधिक प्रफुल्लित होता है। वह जीवन की कठोर परिस्थितियों से न घबराता है और न उनसे कतराता है बल्कि यथासंभव उन पर विजय पाने का विवेकपूर्ण प्रयास करता है। ऐसे व्यक्ति प्रायः अपने दुःख के कारणों को भलीभांति समझते हैं इसलिए दुःख होने पर भी वह उससे अधिक दुःखी नहीं होते।

२. **संतुलित व्यक्तित्व** — फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले तीन कारक हैं— इडम्, अहम् व पराहम्

(इड़, इगो, सुपरइगो)। इड़ येन-केन-प्रकारेण अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं को पूरी करने का प्रयास करता है। सुपर इगो नैतिक मन है। यह इड़ की इच्छाओं पर अंकुश लगाने का आग्रह करता है। फलस्वरूप व्यक्ति के जीवन में संघर्ष पैदा हो जाता है। परन्तु जब व्यक्ति का अहम् (इगो) शक्तिशाली होता है, तब वह दोनों इड़ के क्षणिक आवेग तथा पराहम् के कठोर आदेश एवं आग्रह के बीच सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करता है, जिसके परिणामस्वरूप जीवन में तथा व्यक्तित्व में संतुलन बना रहता है। संतुलित व्यक्ति के लिए 'इगो' का शक्तिशाली होना जरूरी है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति का अहम् (इगो) सदैव शक्तिशाली रहता है।

**३. आत्मविश्वासी तथा आशावादी-** मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति की एक प्रमुख विशेषता है—आत्मविश्वासी एवं आशावादी होना। ऐसे व्यक्तियों को अपनी योग्यताओं पर अटूट विश्वास होता है। उनके मन में कुछ नया कर गुजरने का अदम्य विश्वास एवं साहस होता है। साथ ही अपने द्वारा कृत कार्यों के प्रति भी वे आशावादी होते हैं। वे कार्य करने के पश्चात् सदैव सकारात्मक परिणामों की ही कल्पना करते हैं। निषेधात्मक चिन्तन, और निषेधात्मक कल्पनाओं का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं होता।

**४. अपना वास्तविक मूल्यांकन -** ऐसे व्यक्ति अपनी क्षमताओं व कुशलताओं के साथ ही साथ अपनी निर्बलताओं अथवा परिसीमाओं का भी वास्तविक रूप में अध्ययन करते हैं। अध्ययन के साथ अपनी जो भी कमियाँ या त्रुटियाँ हैं, उन्हें भी सहर्ष स्वीकार करते हैं।

**५. सहजता तथा सहृदयता -** ऐसे व्यक्तियों के व्यवहार में प्रायः मिथ्याचार व आडम्बर देखने में नहीं आता। उनकी कथनी और करनी में समानता होती है; वे जो कुछ करते हैं अथवा कहते हैं, उसमें किसी भी प्रकार का छल-कपट नहीं होता; वे सभी कार्य सहृदयता तथा सहजता के साथ करते हैं। उनमें सभी के प्रति प्रेमभाव होता है। वे जो कुछ करते हैं, उसमें केवल उनका व्यक्तिगत हित ही नहीं होता अपितु वह पूरे समाज व राष्ट्र- के कल्याण को ध्यान में रखकर किया गया होता है।

**६. व्यावहारिक धरातल -** ऐसे व्यक्ति केवल लम्बी-लम्बी काल्पनिक उड़ानें नहीं भरते अपितु वे जीवन के यथार्थ एवं व्यावहारिक धरातल पर जीते हैं। वे जीवन में उन्हीं आवश्यकताओं व वास्तविक योजनाओं तथा लक्ष्यों के प्रति प्रयत्नशील रहते हैं, जिनकी पूर्ति प्रायः उनकी उपलब्ध क्षमताओं व योग्यताओं के अनुकूल हो।

**७. उच्च मनोबल व धैर्य -** मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति का मनोबल उच्च रहता है। जीवन में आने वाले संघर्षों के प्रति वे सकारात्मक रूप से प्रतिक्रिया करते हुए पाए जाते हैं। भयावह परिस्थितियों में भी वे अपना धैर्य व साहस नहीं खोते।

इस प्रकार जिन व्यक्तियों के जीवन-व्यवहार में उपरोक्त विशेषताएँ पाई जाती हैं, उन्हें मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु इन गुणों को सहसा किसी व्यक्ति को देखकर जाना नहीं जा सकता। अतः व्यावहारिक तौर पर मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति की पहचान के लिए कुछ लक्षण भी निर्दिष्ट किये गए हैं।

### २.४.३ मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण

व्यक्ति की वेशभूषा, व्यवहार, विचार, स्वभाव तथा निर्णायक शक्ति—ये ऐसे पैरामीटर हैं, जिनकी सहायता से सामने वाले व्यक्ति की मानसिकता की जांच की जा सकती है। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों ने इन पांच तत्वों को मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।

**१. वेशभूषा-** रोटी, कपड़ा और मकान—ये मनुष्य मात्र की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। वस्त्र शरीर ढकने का एक उपयोगी साधन है परन्तु व्यक्ति किस प्रकार के वस्त्र पहनता है? वह अपने वस्त्रों के प्रति कितना सजग है? आदि बातों से उसके व्यक्तित्व के साथ-साथ उसकी मानसिक स्वस्थता का पता लगाया जा सकता है। मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति के वस्त्र अव्यवस्थित रहते हैं। उसे कपड़ों का कोई भान ही नहीं रहता। उसके वस्त्रों के रंग भी बेमेल से रहते हैं।

**२. व्यवहार-** प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल भिन्न-भिन्न अनेक परिस्थितियाँ आती रहती हैं। इन परिस्थितियों में वह कैसा व्यवहार करता है? उसके आधार पर भी मानसिक स्वस्थता का अंकन किया जा सकता है। सामने वाला कैसा भी व्यवहार करे, मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति उत्तेजित नहीं होता तथा उसके साथ विवेकपूर्वक व्यवहार करता है।

**३. स्वभाव-** व्यक्ति का स्वभाव भी उसकी मानसिकता का परिचायक है। कुछ लोग सदैव आलस्य से भरे रहते हैं। आलस्य और अकर्मण्यता अस्वस्थता का द्योतक है। स्फूर्ति व जागरूकता मानसिक स्वस्थता का द्योतक है।

**४. विचार-** विचार, चिन्तन के आधार पर भी मानसिक स्वस्थता एवं अस्वस्थता का पता लगाया जा सकता है। व्यक्ति की सोच, व्यक्ति के विचार जितने सकारात्मक हैं, व्यक्ति उतना ही स्वस्थ है और नकारात्मक विचार उनकी मानसिक अस्वस्थता को प्रदर्शित करता है।

**५. निर्णय की शक्ति-** मानसिक स्वास्थ्य मापन का पांचवा सूत्र है—निर्णायक शक्ति। निर्णायक शक्ति कितनी है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति सही निर्णय ले पाता है या नहीं, इसके आधार पर भी मानसिक स्वास्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है।

## २.५ चित्त का आध्यात्मिक आधार

साधारणतया चित्त और मन को एक ही मान लिया गया है। वस्तुतः ये एक नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक भी इस सन्दर्भ में विशेष रूप से स्पष्टता नहीं दे पाए हैं परन्तु अध्यात्माचार्यों ने इन दोनों को पूर्ण रूप से भिन्न स्वीकार किया है।

### २.५.१ चित्त का स्वरूप

‘छान्दोग्योपनिषद्’ में चित्त को संकल्प से एवं संकल्प को मन से श्रेष्ठ बताया गया है। इस वाक्य से स्पष्ट है कि चित्त सबसे श्रेष्ठ है। छान्दोग्योपनिषद् में चित्त की श्रेष्ठता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—जब चित्त में चेतना उत्पन्न होती है, तब मनुष्य संकल्प करता है, फिर वह मनन करता है, मनन द्वारा प्राप्त विचार वाणी को प्रेरित करता है। इस प्रकार ये मन आदि सभी चित्त में लीन होने वाले हैं। योगसूत्र में चित्त को जीवात्मा के माध्यम के रूप में कार्य करने वाला बताया गया है। योगसूत्र के अनुसार चेतना का जो कार्य है, वही चित्त के रूप में दिखाई पड़ता है। पतंजलि ने चित्त की भिन्न-भिन्न पांच अवस्थाओं का भी वर्णन किया है— १. मूढ़, २. क्षिप्त, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र, ५. निरुद्ध।

जैनाचार्यों ने चित्त को **चेतना की एक रश्मि** के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में आत्मा एक ज्ञान सूर्य है। इस ज्ञान सूर्य से हजारों रश्मियाँ निष्कासित होती हैं। ये रश्मियाँ चित्त कहलाती हैं। चित्त का अर्थ है—स्थूल शरीर के साथ काम करने वाली चेतना। चित्त हमारी चेतना से प्रभावित होता है और हमारे स्थूल शरीर को प्रभावित करता है। वह मस्तिष्क अथवा नाड़ी-तन्त्र के माध्यम से जीवन की प्रत्येक क्रिया—शरीर, वाणी, मन को संचालित करता है, नियंत्रित करता है।

### २.५.२ चित्त के प्रकार

चित्त के प्रकारों के सन्दर्भ में भी भिन्न-भिन्न मत हैं। महर्षि पतंजलि ने क्षिप्त, विक्षिप्त आदि चित्त की पांच अवस्थाएँ मानी हैं। पातंजल योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने चित्त के तीन रूप बतलाए हैं, वहीं आचार्य महाप्रज्ञ ने चित्त के निम्न चार प्रकारों की चर्चा की है— १. आवरण चित्त, २. अन्तराय चित्त, ३. मिथ्यादर्शन चित्त, ४. मोहचित्त।

**१. आवरण चित्त**—यह चैतन्य को आवृत करने वाला चित्त है। मूलतः आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से सम्पन्न है परन्तु यह चित्त चेतना के इन गुणों को आच्छादित कर देता है। उन्हें पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होने देता। इसीलिए इस चित्त को आवरण चित्त कहा गया।

**२. अन्तराय चित्त**—यह बाधा डालने वाला चित्त है। इसके कारण व्यक्ति जैसा चाहे, वैसा काम कर नहीं सकता। यद्यपि आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है परन्तु इस चित्त के कारण व्यक्ति के कार्य में कोई-न-कोई बाधा आती रहती है।

**३. मिथ्यात्व चित्त**—इस चित्त के कारण दृष्टिकोण मिथ्या बन जाता है। व्यक्ति सत्य तक नहीं पहुँच पाता। वह सही को गलत और गलत को सही के रूप में ग्रहण करता है।

**४. मोह चित्त**—इस चित्त के कारण संयम की भावना, व्रत की भावना उत्पन्न नहीं होती। इसके कारण व्यक्ति का आकर्षण राग एवं द्वेष युक्त प्रवृत्तियों में ही रहता है।

ये चारों ही चित्त शुद्ध चेतना को मूर्च्छित करते हैं। आत्मा के मूल गुणों को प्रकट नहीं होने देते, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति मूढ़ बना हुआ इस संसार सागर में परिभ्रमण करता रहता है। इन चारों चित्त के प्रतिपक्षी चित्त—अनावरण चित्त, निर्विघ्न चित्त, सम्यग् दर्शन चित्त और वीतराग चित्त भी निर्दिष्ट हैं। प्रत्येक व्यक्ति सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा उपरोक्त चारों अशुद्ध चित्त को शुद्ध चित्त में परिवर्तित कर सकता है।

### २.५.३ चित्त शुद्धि के उपाय

प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य है—चित्त शुद्धि। शुद्ध चित्त के निर्माण के लिए जीवन विज्ञान में निम्नलिखित उपाय निर्दिष्ट हैं—

१. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, २. निर्विचार प्रेक्षा, ३. भावक्रिया, ४. वीतराग चित्त का निर्माण, ५. श्वास दर्शन।

**१. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा—** हमारे शरीर के कण-कण में चेतना व्याप्त है किन्तु शरीर में कुछ स्थान ऐसे हैं, जहाँ चैतन्य सघन रूप में व्याप्त है। प्रेक्षाध्यान में उन स्थानों को चैतन्य केन्द्र कहा गया है। चैतन्य केन्द्र तेरह हैं, जैसे—ज्ञान केन्द्र (चोटी का मध्य भाग), शान्ति केन्द्र (ललाट का अग्र भाग), ज्योति केन्द्र (ललाट का मध्य भाग), दर्शन केन्द्र (भृकुटी का मध्य भाग), विशुद्धि केन्द्र (गले का मध्य भाग), आनन्द केन्द्र (छाती का मध्य भाग, जहाँ खड्डा पड़ता है) आदि। इन पर ध्यान करने से व्यक्ति के भीतरी स्राव बदलते हैं, भाव परिष्कृत होते हैं, परिणामस्वरूप चित्त शुद्ध होता है।

**२. निर्विचार-प्रेक्षा -** विचार मन को चंचल बनाते हैं। मन की चंचलता चित्त को अशुद्ध बनाती है। निर्विचार होने के लिए कण्ठ का कायोत्सर्ग सबसे सरल उपाय है। श्वास का संयम (कुंभक) करने से और जीभ को तालु की ओर उलटने से विचारों का प्रवाह एकदम रुक जाता है। जो विचार आ रहे हैं, उन्हें भी केवल देखते रहने से निर्विचार स्थिति का निर्माण हो जाता है। यह चित्त शुद्धि का एक सशक्त उपाय है।

**३. भावक्रिया -** जिस क्रियाकाल में जो भाव है, वह भाव पूर्ण क्रियाकाल में बना रहे। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जिस क्षण जो कार्य किया जा रहा है, उसी में तन और मन दोनों से लगे रहना भाव-क्रिया है। यह सतत् अप्रमत्तता की साधना और वर्तमान में जीने की साधना है। वर्तमान का क्षण वीतरागता का क्षण है। वर्तमान क्षण के प्रति जागरूक रहने वाला राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। राग-द्वेष चित्त को अशुद्ध बनाते हैं। अतः भावक्रिया चित्त शुद्धि का महत्त्वपूर्ण उपाय है।

**४. वीतराग चित्त का निर्माण -** चित्त शुद्धि के लिए चित्तपर्याय के निर्माण की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—सबसे पहले हम जैसा बनना चाहते हैं, वैसे चित्त का निर्माण करें। यदि वीतराग बनना चाहते हैं तो वीतराग चित्त का निर्माण करें। उसके बाद ऐसे व्यक्ति का चित्र बनायें, जिसमें हमारा ध्येय साकार हो सके। उसके बाद ध्यान में ध्येय का चिन्तन करते हुए धीरे-धीरे ध्येय में इतने प्रविष्ट हो जायें कि ध्येय और ध्याता दोनों एक बन जायें। यह गुण संक्रमण का सिद्धान्त है। व्यक्ति जैसा चित्त निर्माण करता है, वैसा बन जाता है और धीरे-धीरे चित्त चित्तातीत अवस्था तक पहुंच जाता है।

**५. श्वास-दर्शन -** चित्त की चंचलता का शारीरिक कारण नाड़ी संस्थान है। श्वास दर्शन से नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण होता है और नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण होने से चित्त की चंचलता पर नियंत्रण होता है। चित्त की चंचलता को कम करने का एक उपाय एकाग्रता भी है। एकाग्रता का अर्थ है—एक विषय पर चित्त का निरुद्ध हो जाना। उत्तराध्ययन में कहा गया है—एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है। निरोध का अर्थ निर्विकल्प होना नहीं अपितु एक बिन्दु पर टिक जाना है। हमारे मस्तिष्क में कुछ ऐसे केन्द्र हैं, जो आवेग, संवेग आदि वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। स्वाध्याय, ध्यान, भाव-विशुद्धि और तपस्या—इन चारों के द्वारा मस्तिष्क के उन केन्द्रों पर नियंत्रण स्थापित होता है, जिससे चित्त की चंचलता कम होने से चित्त की शुद्धि होती है।

**६. अनित्य अनुप्रेक्षा -** अनुप्रेक्षाएँ अनेक हैं। जो व्यक्ति प्रेक्षा के साथ-साथ अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करता है, उसके चित्त पर कोई मलिनता नहीं जमती। अनित्य शब्द का अर्थ है—क्षीण या नष्ट होना। नष्ट होना प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है, अतः इस सत्यता का चिन्तन करना अनित्य अनुप्रेक्षा है। अनित्य अनुप्रेक्षा को प्रारम्भ करने के लिए शांत और जागृत रहकर संकल्प करना होता है। इसका पहला सूत्र है—‘इमं शरीरं अणिच्चं’ यह शरीर अनित्य है।

इसका दूसरा सूत्र है—‘इमं शरीरं विपरिणामधर्म्यं’—यह शरीर विपरिणामधर्मा है अर्थात् इसमें नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। कभी गर्मी से, कभी सर्दी से, कभी भोजन से, कभी बीमारी से परिवर्तन होता रहता है। इसका तीसरा सूत्र है—‘इमं शरीरं चयावचयधर्म्यं’—यह शरीर चय-अपचय धर्मा है अर्थात् यह पुष्ट होता है, क्षीण होता है।

इसका चौथा सूत्र है—‘इमं शरीरं जरा-मरण-धर्म्यं’—यह शरीर जरा-मरण धर्मा है। इसमें वृद्धावस्था घटित होती है और मृत्यु घटित होती है।

इस अनुप्रेक्षा को करते समय हम शरीर को इतना ढीला छोड़ दें कि मानो मृत्यु का अनुभव हो रहा है। साथ ही यह अनुचिन्तन चलता रहे कि यह शरीर अनित्य है, यौवन अनित्य है, परिवार का संयोग अनित्य है, वैभव सम्पदा सब अनित्य है,



इष्ट का संयोग भी अनित्य है। इस प्रकार जिस साधक को अनित्य अनुप्रेक्षा करते-करते वास्तव में अनित्यता का बोध हो जाता है, वह अपने चित्त की मलिनता को दूर कर चित्त-शुद्धि की ओर अग्रसर हो जाता है।

## २.६ मन : आध्यात्मिक आधार

### २.६.१ मन का स्वरूप

जीवन का एक महत्वपूर्ण घटक है—मन। वर्तमान युग मानसिक समस्याओं का युग है। आज जितनी भी नई-नई शारीरिक एवं मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न हो रही हैं। उन सबके पीछे एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में मन का ही स्थान है। इस सन्दर्भ में मनोविज्ञान एवं अध्यात्म—दोनों ही एकमत हैं। मन की शान्ति एवं सन्तुलन के बिना व्यक्ति किसी भी प्रकार की सुख एवं शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। संतुलित जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है—मानसिक स्वास्थ्य। मानसिक स्वस्थता के लिए मन को समझना जरूरी है।

‘मनोनुशासनम्’ में मन को परिभाषित करते हुए कहा गया—‘इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः’ मन संज्ञान का एक स्तर है। उसकी व्याख्या तीन विशेषणों से की जाती है—

१. **इन्द्रियसापेक्ष**—मन इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों में प्रवृत्त होता है, इसलिए इन्द्रिय सापेक्ष है।

२. **सर्वार्थग्राही**—मन शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों के सभी विषयों को जानता है। इसलिए सर्वार्थग्राही है।

३. **त्रैकालिक**—मन भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों का संकलनात्मक ज्ञान करता है, इसलिए त्रैकालिक है।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में—बृहद मस्तिष्क के द्वारा जो चैतन्य प्रकट होता है, जिसमें त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता होती है, उसका नाम ‘मन’ है।

सरल शब्दों में परिभाषित किया जाए तो मन का अर्थ है—स्मृति, चिन्तन और कल्पना। जो अतीत की स्मृति करता है, वर्तमान का चिन्तन करता है और भविष्य की कल्पना करता है, वह मन है। ‘मणिज्जमाणे मणे’ जो मनन काल में होता है, वह मन है।

### २.६.१.१ मन के कार्य

मन को भलीभांति समझने के लिए मन के कार्यों को समझना जरूरी है। मन के मुख्यतया तीन कार्य हैं—स्मृति, चिन्तन, कल्पना।

**स्मृति**—मन की प्रथम क्रिया है। स्मृति का अर्थ है अतीत की घटनाओं का वर्तमान में मस्तिष्क पटल पर उभर आना। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाए तो अचेतन में दबी हुई घटनाओं का चेतन स्तर पर आ जाना स्मृति है। संस्कारों के जागरण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति है। मनुस्मृति के अनुसार ‘संस्कारोद्बोधसम्भवाः’ स्मृति के संस्कार के द्वारा होने वाली एक क्रिया है।

**चिन्तन**—मन की दूसरी क्रिया है—चिन्तन। चिन्तन का सीधा सम्बन्ध वर्तमान में विद्यमान घटनाओं के विचार-विमर्श या मनन से होता है। चिन्तन का सीधा-सा अर्थ है—वार्तमानिक घटनाओं पर मनन करना।

**कल्पना**—कल्पना मन का तीसरा प्रमुख कार्य है। इसका सम्बन्ध भविष्यकाल से है। भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं पर चिन्तन, मनन करना कल्पना है। कल्पना के आधार पर ही व्यक्ति पुरुषार्थ करता है। इस प्रकार मन के ये तीन प्रमुख कार्य हैं तथा ये तीनों जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। परन्तु इसका अति उपयोग मानसिक विकृति को निमन्त्रण है।

### २.६.१.२ मन की अवस्थाएँ

जैनागमों में मन की तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है—विक्षेप, एकाग्र तथा अमन।

**विक्षेपावस्था** मन की प्रथमावस्था है। इसमें स्मृति, चिन्तन एवं कल्पना का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस अवस्था में मन विश्राम की अवस्था में नहीं आता। केवल एक चिन्तन से दूसरे पर, एक विचार से दूसरे विचार पर भटकता रहता है। **एकाग्रता** मन की दूसरी अवस्था है, जिसमें मन एक आलम्बन पर एकाग्र हो जाता है। वह एक विषय पर ही स्थिर रहता है।

**अमन** मन की तृतीय अवस्था है। अमन का अर्थ है—पूर्णतया निर्विचार हो जाना। इस अवस्था में न स्मृति रहती है, न चिन्तन रहता है और न कल्पना। व्यक्ति सब प्रकार के विचारों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

## २.६.२ चित्त और मन में अन्तर

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार चित्त और मन को व्यवहार में एक मानने से कोई कठिनाई नहीं आती किन्तु ध्यान साधना के क्षणों में यह कठिनाई उभर कर सामने आती है। इसीलिए चित्त और मन की भिन्नता को समझना जरूरी है। 'चित्त' चेतना की रश्मि है। यह अनुभव करने का साधन है। मन का संचालक है। मन भौतिक तत्त्व है। चित्त आत्मिक है। मन का अर्थ है—मनन करना। 'जीवन विज्ञान की रूपरेखा' पुस्तक में चित्त और मन के अन्तर को एक तालिका की सहायता से स्पष्ट किया गया है—

क्र.सं.	अन्तर बिन्दु	चित्त	मन
०१.	संचालन	संचालक, मालिक, चैतन्य का एक भाग है।	संचालित, नौकर, क्रियातंत्र का एक अंश है।
०२.	स्वरूप	चैतन्य धर्म है, सचेतन है, ज्ञानात्मक है।	चेतना रहित है, जड़ है, पौद्गलिक है, भौतिक है।
०३.	स्थिरता	यह स्थिर हो सकता है।	स्थिर नहीं हो सकता, एकाग्र हो सकता है।
०४.	अस्तित्व	त्रैकालिक अस्तित्व है, सभी प्राणियों में है।	यह स्थायी नहीं है, केवल कुछ प्राणियों में है।
०५.	क्षेत्र	चित्त व्यापक है, इसका सम्बन्ध चेतना की गहराई तक है।	ऊपर तक सीमित है, सम्पूर्ण व्यवहार की व्याख्या मात्र इससे संभव नहीं।
०६.	कार्य	अनुभव करना	चिन्तन, कल्पना, स्मृति करना।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि किसी कार्य को करवाने वाला मूल मालिक चित्त है। चित्त के सहयोग के बिना मन कुछ भी नहीं कर सकता। मन के द्वारा किये जाने वाले जितने भी कार्य हैं—स्मृति, चिन्तन और कल्पना। इन सबका संचालक चित्त ही है।

**चित्त : संचालक** - मानसिक प्रक्रियाएँ चित्त के सहयोग से ही सम्पन्न होती हैं। उसके सहयोग के बिना मन कुछ भी नहीं कर सकता। हाथ की अंगुलियाँ चलती हैं और अनेक कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। ये शारीरिक और मानसिक कार्य मस्तिष्क द्वारा चित्त का सहयोग प्राप्त होने पर ही सम्पादित होती हैं। क्रिया करना शरीर का काम है, संचालन करना चित्त का काम है। हारमोनियम से आवाज निकलती है, जब व्यक्ति हारमोनियम को बजाता है। वैसे ही चित्त (व्यक्ति) का सहयोग प्राप्त होने पर मस्तिष्क (हारमोनियम) द्वारा मानसिक प्रक्रियाएँ (आवाज) निष्पन्न होती है।

**चित्त : चैतन्य धर्मा** - चित्त भिन्न है और मन भिन्न है। चित्त चैतन्य धर्मा, चेतनावान या सचेतन है और मन चैतन्य रहित है, जड़ या पौद्गलिक (material) है। मन व्यक्तित्व का ऊपरी हिस्सा है, जो चित्त का स्पर्श पाकर सचेतन जैसा प्रतीत होता है, चित्त हमारी भीतर की सारी चेतना का स्थूल व्यक्तित्व पर प्रतिनिधित्व करता है।

**चित्त की स्थिरता** - चित्त स्थिर हो सकता है, मन स्थिर नहीं हो सकता। मन एकाग्र हो सकता है। मन की दो अवस्थाएँ हैं—विक्षिप्तावस्था और एकाग्र अवस्था। विक्षिप्तावस्था में मन एक बिन्दु पर नहीं टिकता। एकाग्रावस्था में वह एक बिन्दु पर एकाग्र हो सकता है। दोनों चंचलता के रूप हैं। दोनों में अन्तर इतना-सा है कि जो मन अनेक विषयों में जा रहा था, उसको एक विषय में एकाग्र कर दिया। अनेक स्मृतियों या कल्पनाओं में उलझने वाले मन को एक स्मृति या कल्पना पर टिका दिया जाता है। पर इस अवस्था में भी यह नहीं कहा जा सकता कि मन स्थिर हो गया।

मन का स्वभाव है—चंचलता। उसका अस्तित्व चंचलता में ही है। हम चित्त को स्थिर कर सकते हैं। जब चित्त स्थिर होता है, तब मन अमन बन जाता है, मन होता ही नहीं।

**चित्त का अस्तित्व** - चित्त हमारे अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। यह स्थायी तत्त्व है। ऐसा नहीं होता कि चित्त अभी पैदा हुआ

और अभी समाप्त हो गया। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। मन उत्पन्न होता है और विलीन होता है। हम जब चाहते हैं, मन को उत्पन्न कर लेते हैं और जब चाहें उसको विलीन कर देते हैं, अमन हो जाते हैं। चित्त का अस्तित्व सभी प्राणियों में होता है। मन का अस्तित्व केवल विकसित पांच इन्द्रिय वाले प्राणियों में ही होता है।

**चित्त का क्षेत्र** - मन के द्वारा सम्पूर्ण जीवन और कार्यकलापों की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। मन एक सीमित तत्त्व है, उसका सम्बन्ध ऊपरी व्यक्तित्व तक ही है। चित्त व्यापक है, उसका सम्बन्ध हमारी आन्तरिक चेतना के साथ है। चित्त और मन-दोनों के आधार पर ही समूचे आचार और व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है।

**चित्त का कार्य** - चित्त का कार्य है-अनुभव करना, मात्र जानना, देखना। मन का कार्य है-मनन करना, स्मृति, चिन्तन, कल्पना करना। दूसरे शब्दों में अनुभूति करना चेतना का विशिष्ट लक्षण है। यह चित्त का कार्य है। वस्तुतः इन मानसिक क्रियाओं को ही मन कहा जा सकता है।

### २.६.३ मन असंतुलन के कारण

प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है। इस संसार में कोई शरीरधारी नहीं, जो अस्वस्थ रहना चाहता हो, फिर भी बीमारियाँ किसी-न-किसी रूप में मनुष्य को घेर ही लेती हैं। वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है-आधि अर्थात् मानसिक बीमारी। आज की अधिकांश शारीरिक बीमारियों का मूल कारण है-मानसिक असंतुलन। जब मन स्वस्थ नहीं होता है, तब वह शरीर को भी प्रभावित करता है और शरीर बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है। परन्तु प्रश्न है कि यह मन अस्वस्थ क्यों होता है? ऐसे कौन-से तत्त्व हैं, जिनके कारण मानसिक असंतुलन पैदा हो जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने इस सन्दर्भ में कुछ कारणों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं- १. असीमित चिन्तन, २. अधीरता, ३. असहिष्णुता, ४. उदासी, ५. आग्रह, ६. प्रतिस्पर्धा, ७. पक्षपात। ८. नाड़ी संस्थान की दुर्बलता।

**१. असीमित चिन्तन-** मन के मुख्य तीन कार्य हैं, जिनमें से एक है-चिन्तन करना। चिन्तन करना गलत नहीं है। चिन्तन नहीं होता तो आज मनुष्य ने जिन प्रगति की ऊँचाइयों को छुआ है, नहीं छू पाता। चिन्तन विकास का एक प्रमुख आधार है परन्तु असीमित चिन्तन अथवा अनावश्यक चिन्तन करना मानसिक असंतुलन का कारण है। ब्रेन का दुरुपयोग है, जिसके कारण अनावश्यक ही मस्तिष्कीय ऊर्जा का अपव्यय होता है। सम्यक् विकास की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं।

**२. अधीरता** - जीवन में सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है-धृति। परन्तु आज का मानव इसे खोता जा रहा है। जिसे देखो वही जल्दबाजी में है। जल्दबाजी के कारण किसी भी कार्य को सही ढंग से नहीं कर पाता। परिणामतः मन ओर अधिक बेचैन एवं असंतुलित हो जाता है, जिसमें धैर्य नहीं होता, वह बनता हुआ काम भी बिगाड़ देता है। बहुत बार विद्यार्थी जल्दबाजी के कारण आता हुआ प्रश्न भी परीक्षा में सही नहीं कर पाते।

**३. असहिष्णुता** - मानसिक असंतुलन का तीसरा महत्वपूर्ण कारण है-असहिष्णुता। असहिष्णुता का अर्थ है-सहनशक्ति में कमी। कहा जाता है-वर्तमान युग असहिष्णुता का युग है क्योंकि आज का जन्मा हुआ छोटा बच्चा भी सहन करना नहीं जानता। माता-पिता अपने बच्चों की हर ख्वाइश पूरी करने का प्रयास करते हैं, जिसके कारण बालकों में प्रतिकूल परिस्थितियों को सहने की क्षमता का विकास ही नहीं हो पाता। परिणामतः जब कभी प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं, व्यक्ति मानसिक संतुलन खो देता है।

**४. उदासी** - उदासी एक मानसिक विकार है। जब व्यक्ति के मन में उदासी छाती है तब किसी भी कार्य के प्रति उत्साह नहीं रहता। अनुत्साही व्यक्ति किसी भी प्रकार के कार्य को सही ढंग से नहीं कर पाता। परिणामस्वरूप उसकी भर्त्सना होती है। लोक व्यवहार में उसकी निन्दा होती है। वह और ज्यादा निरुत्साही हो जाता है, अपनी योग्यता एवं क्षमताओं का ठीक उपयोग नहीं कर पाता। मन असंतुलित होने के कारण उदासी आती है और पुनः उदासी के कारण मन असंतुलित हो जाता है।

**५. आग्रह** - आग्रह का अर्थ है-अपनी बात पर अड़े रहना। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बात को सही मानता है, दूसरे की बात को समझने का प्रयास नहीं करता, जिसके कारण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। कलह का वातावरण निर्मित हो जाता है। कलह, अपने लोगों से दूरी, व्यक्ति के मन में अशांति पैदा करती है। यही अशांति मानसिक असंतुलन को निमन्त्रण है।

**६. प्रतिस्पर्धा-** आज का युग प्रतिस्पर्धा का युग है। खान-पान, रहन-सहन, अर्थ, फैशन आदि प्रत्येक क्षेत्र में

प्रतिस्पर्धा ने अपना अड्डा जमा रखा है। प्रतिस्पर्धा की इस दौड़ में जो जीत जाता है, वह अहंकार से फूल जाता है और जो हार जाता है, जो अपने प्रतिस्पर्धियों का सामना नहीं कर पाता वह मानसिक असंतुलन का शिकार हो जाता है। वर्तमान युग मानसिक बीमारियों का युग है और यह कहना असम्यक् न होगा कि आज की मानसिक बीमारियों का एक बहुत बड़ा कारण है—प्रतिस्पर्धा।

**७. पक्षपात-** पक्षपात एक बहुत बड़ी समस्या है। कर्मों से लिप्त प्राणी एक से राग करता है, दूसरे से घृणा। परिणामस्वरूप पक्षपात घटित होता है। जब व्यक्ति स्वार्थ के दायरे में आबद्ध होता है तब वह अपनों की हर इच्छा, आकांक्षाओं की पूर्ति करता है, चाहे वो पूर्ति करने योग्य हो या न हो तथा दूसरों का शोषण करता है, उसकी आवश्यक इच्छाओं की भी पूर्ति नहीं करता। इस प्रकार का पक्षपात उस व्यक्ति के मन को व्यथित करता है, जिसके साथ पक्षपात होता है। परिणामस्वरूप वह मानसिक रूप से असंतुलित हो जाता है। आज भी ऐसे अनेक मानसिक बीमारी अर्थात् डिप्रेशन एवं फ्रस्ट्रेशन से ग्रसित मिल जाएँगे, जिनके पीछे मुख्य कारण पक्षपात ही रहा है।

**८. नाड़ी संस्थान की दुर्बलता-** हमारे शरीर का एक महत्वपूर्ण तंत्र है—नाड़ी-तंत्र। नाड़ी-तंत्र के मुख्य दो भाग हैं—मस्तिष्क एवं सुषुम्ना। शरीर रूपी यंत्र को सही ढंग से चलाने के साथ-साथ मन को नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य भी इस तंत्र के द्वारा होता है। परन्तु जब कभी ये संस्थान दुर्बलता का शिकार हो जाता है या विकार ग्रस्त हो जाता है तब मन के ऊपर से इसका नियंत्रण छूट जाता है। परिणामतः मन अनियंत्रित एवं असंतुलित हो जाता है। व्यक्ति चिन्तन नहीं करना चाहता परन्तु अनेक अनावश्यक चिन्तन उसे घेर लेते हैं। व्यक्ति अनावश्यक कल्पना नहीं करना चाहता परन्तु अनेक भयावह कल्पनाएँ उसे परेशान करती रहती हैं।

## २.६.४ मानसिक स्वास्थ्य के सूत्र

आज विश्व में शारीरिक बीमारियों के अनुपात में मानसिक बीमारियाँ अधिक बढ़ती जा रही हैं। मनोवैज्ञानिक तथा अध्यात्माचार्य दोनों ने ही शारीरिक बीमारियों के पीछे भी मुख्य कारण के रूप में मानसिक अस्वस्थता को ही स्वीकार किया है। निराशा (डिप्रेशन), कुण्ठा (फ्रस्ट्रेशन), अनिद्रा (इनसोमनिया) जैसी अनेक घातक मानसिक बीमारियों ने मनुष्य की प्रगति के आगे प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है। मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक स्वस्थता हेतु सम्मोहन, केसस्टडी आदि विधियों के प्रयोग बताये हैं। परन्तु जीवन विज्ञान में ऐसी बीमारियों को परास्त कर मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि हेतु मानसिक स्वास्थ्य के कुछ सूत्र निर्दिष्ट किये गए हैं, जो निम्नलिखित हैं— १. अपने आपको जानना, २. परिणामों की स्वीकृति, ३. सहिष्णुता का विकास, ४. अपने आपको यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना, ५. चैतन्य केन्द्रों की सक्रियता, ६. संयम, ७. ध्यान और ध्वनि।

**१. अपने आपको जानना** - मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पहला सूत्र है—अपने आपको जानना। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अनन्त ज्ञान, दर्शन व शक्ति सम्पन्न है। जो व्यक्ति अपनी इस क्षमता को नहीं जानता, वह स्वस्थ नहीं रह सकता। जो अपनी इस क्षमता एवं योग्यता को जान लेता है तथा इसका उपयोग करने का प्रयास करता है, वह मानसिक रूप से स्वस्थ रह पाता है। उसका मन कभी नकारात्मक भावों से पीड़ित नहीं होता।

**२. परिणामों की स्वीकृति-** मनुष्य सुबह से शाम तक अनेक प्रवृत्तियाँ करता है। मनुष्य का जीवन ही प्रवृत्त्यात्मक है। बिना प्रवृत्ति के जीवन चल नहीं सकता। प्रवृत्ति के अनुरूप ही उसका परिणाम होता है। यदि प्रवृत्ति विधेयात्मक है तो उसका परिणाम भी सकारात्मक होता है और नकारात्मक प्रवृत्ति का परिणाम भी नकारात्मक होता है। जो इस सत्य को स्वीकार कर लेता है, वह जीवन में घटने वाली घटनाओं से प्रभावित नहीं होता है। जो इस सत्य को स्वीकार नहीं करता है, वह जीवन में आने वाले नकारात्मक परिणामों को देखकर घबरा जाता है, दुःखी हो जाता है। दुःखी व्यक्ति मानसिक रूप से विकसित होता है, अतः मानसिक रूप से स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है अपने द्वारा कृत कार्यों के परिणामों को स्वीकार करना।

**३. सहिष्णुता का विकास-** सहिष्णुता का अर्थ है—सहन करना। जीवन में अनुकूल, प्रतिकूल अनेक परिस्थितियाँ घटित होती रहती हैं। जो इन परिस्थितियों में घबरा जाता है, समभाव पूर्वक सहन नहीं कर पाता। वह अपना मानसिक संतुलन खो देता है। मानसिक स्वस्थता के लिए आवश्यक है—इन परिस्थितियों में सम रहना। अनुकूलताएँ, प्रतिकूलताएँ जीवन में आती रहती हैं। यह पूर्ण सत्य नहीं है, एक दिन मिट जाने वाली है, ऐसा सोचकर इन परिस्थितियों को सहन कर लेने वाला ही अपने मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रख सकता है।

**४. अपने आपको यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना-** यह प्रत्येक व्यक्ति की एक मनोवैज्ञानिक बीमारी है कि वह जैसा है,

वैसा अपने आपको प्रस्तुत नहीं करना चाहता। वो जैसा है, उससे बढ़कर अपने आपको प्रस्तुत करता है ताकि उसके अहं की पुष्टि होती रहे। परिवार एवं समाज में उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे। लेकिन जब यथार्थ सामने आता है तब उसके अहं पर चोट पहुंचती है। परिणामस्वरूप मानसिक असंतुलन पैदा हो जाता है। अतः आवश्यक है कि व्यक्ति अपने आपको यथार्थ रूप में प्रस्तुत करे। स्वयं जैसा है, वैसा ही प्रस्तुत करना मानसिक स्वास्थ्य का एक महत्वपूर्ण सूत्र है।

**५. चैतन्यकेन्द्रों की सक्रियता-** अध्यात्माचार्यों के अनुसार हमारे शरीर में अनेक चैतन्य केन्द्र हैं। जहाँ चेतना सघन रूप से रहती है। इन पर ध्यान करने से हमारी शक्ति के स्रोत फूट जाते हैं, जिससे मन भी नियंत्रित एवं शक्तिशाली बनता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में, "मन पर होने वाले आघातों से बचने का एक सशक्त उपाय है—हम अपने चैतन्य केन्द्रों को सक्रिय करें।"

**६. संयम -** मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से संयम का सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है। मन का कार्य है—स्मृति, चिन्तन और कल्पना। ये हमारे विकास के माध्यम बनते हैं। किन्तु इनकी अति प्रवृत्ति मानसिक अस्वस्थता का कारण बन जाती है। अतः स्मृति संयम, कल्पना संयम और चिन्तन संयम बहुत आवश्यक है, जिसका उपाय है—श्वास संयम। जब मन श्वास में लग जाता है, मन को विश्राम मिलता है। मन को विश्राम मिलने से मन स्वस्थ रहता है।

**७. ध्यान और ध्वनि -** दर्शन केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान एवं ज्योति केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान मानसिक स्वास्थ्य का महत्वपूर्ण उपाय है तथा महाप्राण ध्वनि का प्रयोग हमारे ज्ञान तंतुओं को सक्रिय बनाता है। इसे करने के बाद अनुभव होता है कि न कल्पना है न चिन्तन। मन बिल्कुल शांत और स्वस्थ हो जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपरोक्त सूत्रों के अलावा मन को अनुशासित करना सीखना भी जरूरी है। जब मन अनुशासित होता है तब मानसिक स्वास्थ्य अपने आप घटित हो जाता है।

## मन का अनुशासन

व्यावहारिक दृष्टि से अनुशासन का अर्थ है—नियंत्रण। आध्यात्मिक दृष्टि से अनुशासन का अर्थ है—संयम। यहां अपने पर अपना नियंत्रण ही अनुशासन का रूप है। जहां जीवन सामुदायिक होता है, वहां व्यवस्था और अनुशासन अनिवार्य है। अनुशासन के दो प्रकार हैं—आत्मानुशासन और परानुशासन। अपने पर अपना अनुशासन आत्मानुशासन है। बाह्य व्यवस्था से प्राप्त अनुशासन परानुशासन है। जो आत्मानुशासी होते हैं, उनके लिए व्यवस्था और बाह्य अनुशासन बन्धन नहीं होते। पर आत्मानुशासन क्षण भर में नहीं सधता। जैसे-जैसे मोह या आसक्ति की सघनता कम होती है, वैसे-वैसे बाह्य अनुशासन की अपेक्षा भी कम होती है। अभ्यास करते-करते एक दिन ऐसा आता है, जिसमें पूर्ण रूप से आत्मानुशासन का उदय होता है। उस स्थिति के बाद बाह्य अनुशासन की अपेक्षा नहीं रहती। आत्मानुशासी अनुशासन में रहता हुआ भी उससे मुक्त रहता है।

मन का अर्थ है—स्मृति, चिन्तन व कल्पना की मानसिक प्रक्रियाएँ। मन में कोई बुरी बात न आये यह अच्छी बात है। पर मन में आ जाए तो उसे मन तक रखा जाए। बाहर न आने दिया जाए। यदि यह अनुशासन सीख लिया जाता है तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। जब तक मन की बात मन में रहती है, तब तक वह व्यक्तिगत बात बनी रहती है। पर जब मन की बात भाषा में उतर जाती है तो वह अपने तक सीमित नहीं रहती, सामाजिक बन जाती है। बात बढ़ जाती है।

आज के इस भौतिकवादी युग में व्यक्ति बाहरी समस्याओं से उतना परेशान नहीं है, जितना उससे अधिक वह अपनी आन्तरिक समस्याओं से ग्रसित है। उसका मन पर नियंत्रण नहीं रहता। मन पर अनुशासन बहुत अच्छा है, पर यह सरल नहीं क्योंकि अनेक प्रकार के अनुशासनों की सीमा पार करके, मन के अनुशासन तक पहुंचा जाता है।

मन के अनुशासन की प्रक्रिया है—इच्छा का अनुशासन, आहार का अनुशासन, इन्द्रियों का अनुशासन, श्वास का अनुशासन, शरीर पर अनुशासन, वाणी पर अनुशासन एवं फिर मन पर अनुशासन।

## इच्छा का अनुशासन

अनुशासन का स्वरूप है—इच्छानिरोध, इच्छा का निरोध करना। व्यक्ति के मन में अनेक इच्छाएँ पैदा होती हैं। जैसे—किसी की कार देखकर इच्छा हो जाती है कि कार बहुत बढ़िया है, यह कार मैं ले लूँ। किसी की बढ़िया कोठी देखी, इच्छा हो जाती है, उस मकान में रहने की। एक दिन में न जाने कितनी इच्छाएँ पैदा होती हैं। जो इच्छा पैदा हो और उस इच्छा के साथ—



साथ आदमी चले, जो मन में आये वही कर ले तो एक दिन में पूरे समाज की व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। चारों ओर लूट, खसोट, हिंसा और आतंक फैल जायेगा। अतः समाज में अनुशासन सिखाया जाता है, उसके स्वरूप से परिचित कराया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है—यह मेरा मकान है। इसमें मुझे रहना है। मैं दूसरे मकान में नहीं रह सकूँगा। मेरा कपड़ा ही मुझे पहनना है। मेरी रोटी ही मुझे खानी है। जब इस अनुशासन को व्यक्ति जानता है, तब समाज की व्यवस्था ठीक प्रकार से चलती है। इसका अर्थ है—कोई भी व्यक्ति मनमानी बात नहीं कर सकता। जो इच्छा मन में पैदा होती है, वह उसमें कांट-छांट करता है, इच्छा का निरोध करता है। रीजनिंग माइंड (विवेक) का काम है—इच्छा की कांट-छांट करते रहना। यही इच्छा के अनुशासन का स्वरूप है। जो अनुशासित व्यक्ति है, वह मनमानी नहीं करेगा, इच्छा की कांट-छांट करेगा।

## आहार का अनुशासन

मन के अनुशासन में आहार का नियंत्रण भी सशक्त साधन बनता है। मानसिक स्वस्थता का आहार के साथ गहरा संबंध है। जीवन का संचालन मस्तिष्कीय केन्द्रों द्वारा होता है। ये केन्द्र रसायनों द्वारा पोषित एवं संचालित होते हैं। अनेक रसायन, न्यूरोट-इन्समीटर आहार द्वारा बनते हैं। वे हमारे विचार, आचार व व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सम्यक् व संतुलित आहार से सम्यक् रसायन बनते हैं।

आहार अनुशासन के निम्न सूत्र हैं—

१. निश्चित समय का अनुशासन—अर्थात् खाने के समय का निर्धारण बार-बार न बदला जाये।
२. मात्रा का अनुशासन—खाने की मात्रा का विवेक।
३. खाने की सामग्री में वस्तुओं की सीमा-विविध प्रकार की अनेक खाद्य सामग्री को एक साथ खाना, पाचन-तन्त्र को अव्यवस्थित करना है। इससे वैचारिक पवित्रता में भी बाधा आती है।
४. बार-बार न खाना।
५. खाने में जल्दबाजी न करना।
६. आहार और निराहार का सन्तुलन रखना।

## इन्द्रिय का अनुशासन

इन्द्रियों के अनुशासन के बिना मन के अनुशासन की कल्पना नहीं की जा सकती। उसके माध्यम से ही मन को खुराक मिलती है। मन में अच्छे विचार, अच्छी कल्पनाएँ तभी आ सकती हैं, जब इन्द्रियों का भी प्रत्यक्षीकरण (perception) भी वैसा ही हो। अध्यात्म के आचार्यों ने इन्द्रियों को उतना ही मूल्य दिया है, जितना उनका मूल्य है, अधिक मूल्य नहीं दिया।

इन्द्रिय अनुशासन के दो सूत्र हैं— १. अपने-अपने विषयों के प्रति सम्यक् योग, २. प्रतिसंलीनता।

विषयों के प्रति सम्यक् योग का अर्थ है कि व्यक्ति ज्ञेय इन्द्रियों को ज्ञाता की दृष्टि से जाने। न उसके साथ प्रियता को जोड़े, न अप्रियता को जोड़े। इससे मन पवित्र एवं स्वच्छ रहेगा।

प्रतिसंलीनता का अर्थ है कि जो लीनता बाहर की तरफ है, वह अपनी चेतना के प्रति हो जाये। जब इस लीनता/तल्लीनता का रस बदल जाता है, प्रियता-अप्रियता की बात टूटती है, तो यह रसहीनता नहीं है। वह व्यक्ति अपने भीतर महान् रस की खोज कर लेता है। जिस दिन अपने भीतर रसों का पता चलता है, उस दिन इन्द्रिय का अनुशासन सहज हो जाएगा। उसके लिए आन्तरिक रस स्रोत फूट पड़ेगा।

## श्वास का अनुशासन

जो व्यक्ति श्वास पर अनुशासन पा लेता है, वह एकाग्र हो जाता है। आने वाली मानसिक बुराइयों से उलझता नहीं है। वह उन्हें जटिल नहीं बनाता। एक तरफ बुरे विचार चलते हैं, दूसरी तरफ श्वास-दर्शन चलता है। श्वास-दर्शन का जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ेगा, द्रष्टा भाव और ज्ञाता भाव का अभ्यास बढ़ेगा। बुरे विचार आयेंगे और चले जायेंगे।

बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, भावनाओं और आवेशों से उसका जीवन भरता चला जाता है। उसका श्वास छोटा, तीव्र व छिछला हो जाता है। श्वास को ठीक से लेना और छोड़ना, धीमे-धीमे लम्बा लेना और छोड़ना, श्वास को धीरे-धीरे रोकने का

अभ्यास करना, श्वास का अनुशासन है। श्वास के अनुशासन के अभ्यास सूत्र है—प्राणायाम, दीर्घश्वास प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा एवं कायोत्सर्ग।

### शरीर का अनुशासन

शरीर को साधने में कष्ट जरूर होता है लेकिन उसका उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नहीं है। इसका लक्ष्य है—कष्ट को मिटाना। काया को साधने के लिए आसन किये जाते हैं। इससे शरीर में जमा हुआ मैल निकल जाता है। शरीर संध जाता है। शरीर की स्थिरता मन की एकाग्रता में साधन बनती है। शरीर के अनुशासन के उपाय हैं—आसन, मुद्रा, बंध, कायोत्सर्ग एवं अन्यत्व अनुप्रेक्षा।

### वाणी का अनुशासन

वाणी ही मनुष्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। समाज का विस्तार एवं संबंध वाणी के द्वारा ही होता है। मन वाणी पर ही अवलम्बित होता है। मन के अनुशासन के लिए वाणी पर अनुशासन आवश्यक है। स्मृति, चिन्तन और कल्पना—तीनों ही वाणी पर आधारित हैं। भाषा को मुखर मन कहा जा सकता है एवं मन को मूक भाषा। जब मन मुखर होता है बोलने लगता है, तब मन का नाम भाषा हो जाता है। वाणी पर अनुशासन के लिए उपाय हैं—शुद्ध उच्चारण, ध्वनिनाद (प्रलम्बनाद) का अभ्यास, सत्यनिष्ठा आदि।

### मन का अनुशासन

मानसिक प्रशिक्षण से मन को अनुशासित किया जा सकता है। उसके प्रशिक्षण का पहला सूत्र है—भाव-क्रिया का अभ्यास। अर्थात् जिस कार्य को कर रहे हैं, मन को उसी कार्य में लगाने का अभ्यास करना। मन को प्रशिक्षित करने का दूसरा सूत्र है—कल्पना का विकास। संकल्प का या इच्छा-शक्ति का विकास। तीसरा सूत्र है—एकाग्रता का अभ्यास। सही मार्ग, ध्यान की प्रक्रिया, श्रद्धा, दीर्घकालीन और निरन्तर अभ्यास से मन के अनुशासन का प्रश्न समाहित हो जाता है।

## बोध-प्रश्न – २

### १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. चित्त और मन की मनोवैज्ञानिक अवधारणा प्रस्तुत करें।
२. चित्त और मन के सन्दर्भ में फ्रायड एवं युंग के विचारों को प्रस्तुत करें।
३. चित्त को अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में समझाइये।
४. मन के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए मन-असंतुलन के कारणों की चर्चा करें।
५. चित्त और मन में अन्तर स्पष्ट करते हुए मानसिक स्वास्थ्य के सूत्रों को समझाइये।

## इकाई-३ बुद्धि और अवधान : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार

### इकाई की रूपरेखा

- ३.० उद्देश्य
- ३.१ प्रस्तावना
- ३.२ बुद्धि : मनोवैज्ञानिक आधार
  - ३.२.१ बुद्धि : स्वरूप
  - ३.२.२ बुद्धि एवं स्मृति में अन्तर
- ३.३ बुद्धि : प्रकार
- ३.४ बुद्धि : सिद्धान्त
- ३.५ बुद्धि : लब्धि
- ३.६ बुद्धि : अभिवृद्धि
- ३.७ बुद्धि : आध्यात्मिक आधार
  - ३.७.१ बुद्धि : अर्थ
  - ३.७.२ बुद्धि : प्रकार
  - ३.७.३ बुद्धि अभिवृद्धि एवं जीवन विज्ञान
- ३.८ अवधान : स्वरूप
  - ३.८.१ अवधान : अर्थ एवं परिभाषाएँ
  - ३.८.२ अवधान : विशेषताएँ
- ३.९ अवधान : प्रकार
- ३.१० अवधान की दशाएँ
  - ३.१०.१ वस्तुगत दशाएँ
  - ३.१०.२ आन्तरिक दशाएँ
- ३.११ अवधान : महत्त्व
- ३.१२ अवधान : विघ्न एवं प्रेक्षाध्यान

### ३.० उद्देश्य

‘बुद्धि : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार’ इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- \* बुद्धि किसे कहते हैं? समझ सकेंगे।
- \* बुद्धि एवं स्मृति में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे।
- \* बुद्धि के विविध प्रकारों एवं सिद्धान्तों को जान सकेंगे।
- \* बुद्धि विकास के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों के विचारों को जान पायेंगे।
- \* बुद्धि लब्धि प्राप्त करने की विधि को जान सकेंगे।
- \* बुद्धि अभिवृद्धि के लिए किन-किन उपायों को अपनाया जा सकता है? जीवन विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे।
- \* अवधान किसे कहते हैं? समझ सकेंगे।
- \* अवधान के प्रकारों एवं दशाओं से परिचित हो सकेंगे।
- \* अवधान की अभिवृद्धि में प्रेक्षाध्यान की भूमिका को समझ सकेंगे।

## ३.१ प्रस्तावना

आज का युग बौद्धिकता का युग है। बुद्धिहीन व्यक्ति प्रतिस्पर्धा के इस युग में टिक नहीं सकता। सामाजिक क्षेत्र हो या राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्र हो या धार्मिक। जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए बुद्धि ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। महान् विद्वान् निकोला टसला के शब्दों में, “जीवन में सफल होने के लिए मनुष्य को अधिक से अधिक कठिन कार्य करना चाहिए।” एक सफल राजनीतिज्ञ के शब्दों में, “सफलता तथा यश प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि तुम किसी खास दिशा की ओर चलो और अपने आपको उसी विषय पर सीमित करो, जिसका तुम विशेष अध्ययन कर चुके हो।”

परन्तु यहाँ एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या बुद्धि के अभाव में किसी कठिन कार्य को किया जा सकता है? क्या एक मन्दबुद्धि व्यक्ति किसी एक विषय पर विशेष अध्ययन कर सकता है? अध्ययन कर भी ले तो क्या आज के इस प्रतिस्पर्धा के युग में वह अपने आपको सुरक्षित रख सकता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर होगा, नहीं। यदि जीवन में कठिन कार्य करना है, सफलता को प्राप्त करना है तो निश्चित रूप से बुद्धि का विकास जरूरी है। बुद्धिमान व्यक्ति ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर आगे बढ़ सकता है। व्यक्ति के जीवन में बुद्धि का कितना महत्त्व है? यह किसी भी बुद्धिमान अथवा बुद्धिहीन व्यक्ति से छिपा हुआ नहीं है। अतः आवश्यकता है कि विद्यार्थी अपने जीवन में बुद्धि की अवधारणा को समझें। मनोविज्ञान एवं अध्यात्म शास्त्रों में बुद्धि के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन मिलता है। विद्यार्थी उनका गहन अध्ययन करें एवं बुद्धि अभिवृद्धि अर्थात् बुद्धि बढ़ाने के लिए निर्दिष्ट उपायों को अपनाएँ। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत इकाई में बुद्धि, बुद्धि के प्रकार, बुद्धि का आध्यात्मिक आधार एवं बुद्धि-अभिवृद्धि के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन किया गया है तथा अवधान के सन्दर्भ में भी विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है।

## ३.२ बुद्धि : मनोवैज्ञानिक आधार

### ३.२.१ बुद्धि : स्वरूप

अक्सर ऐसा देखा जाता है कि जब किसी बालक को हम प्रश्न पूछते हैं अथवा कोई दिमागी कार्य करने के लिए देते हैं और वह नहीं कर पाता है तो हमारा प्रत्युत्तर होता है—यह बुद्धु है, मूर्ख है या बुद्धिहीन है। परन्तु मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किसी एक क्षेत्र में बालक के कमजोर होने पर उसे पूरी तरह मूर्ख या बुद्धिहीन कह देना न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि बुद्धि में कोई एक गुण नहीं होता बल्कि बुद्धि अनेक गुणों का समुच्चय है। अतः किसी भी व्यक्ति को बुद्धिमान या बुद्धिहीन तब तक नहीं कहना चाहिए जब तक उसके व्यवहार में निहित बुद्धि के अनेक गुणों का परीक्षण न किया जाये। ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आते हैं, जिसके अन्तर्गत पाया जाता है कि कुछ बालक अपनी कक्षा के विषयों में फेल हो जाते हैं परन्तु वे ही बालक घर के या बाहर के कार्य में बड़े प्रभावी होते हैं। कुछ बालक एक विषय को समझने में अधिक समय लगा देते हैं, परन्तु वे ही बालक दूसरे विषयों में अपने आपको प्रतिभाशाली सिद्ध कर देते हैं। कुछ बुद्धिहीन या मूर्ख दिखने वाले बालक बड़े होकर अपनी योग्यता से अच्छे व्यापारी, कुशल व्यवसायी आदि बनकर अपने ही साथ पढ़े हुए अक्वल नम्बर आने वाले बुद्धिमान साथियों को भी पीछे छोड़ देते हैं। अतः किसी की कुछ अयोग्यताओं को देखकर उसे बुद्धिहीन या मन्दबुद्धि कह देना उचित नहीं होता। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि बुद्धिमान या बुद्धिहीन किसे कहा जाए? बुद्धिमान एवं मूर्ख की पहचान कैसे की जाये? इसके लिए हमें बुद्धि को समझना होगा। बुद्धि क्या है? इस सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रदत्त भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ, सिद्धान्त एवं प्रकारों को समझना होगा—

१. मनोवैज्ञानिक स्टर्न के अनुसार—“नई परिस्थितियों में समायोजन की योग्यता ही बुद्धि है”।
२. हरमन के अनुसार—“अमूर्त चिन्तन की योग्यता बुद्धि है।”
३. कोलसेनिक के अनुसार—“बुद्धि कोई एक शक्ति, क्षमता या योग्यता नहीं है, जो सब परिस्थितियों में समान रूप से कार्य करती है, अपितु विभिन्न योग्यताओं का योग है।
४. रैक्स व नाइट के अनुसार—“बुद्धि वह तत्त्व है, जो सब मानसिक योग्यताओं में सामान्य रूप से सम्मिलित रहता है।”
५. कालविन के अनुसार—“यदि व्यक्ति ने अपने वातावरण से सामंजस्य करना सीख लिया है या सीख सकता है तो उसमें बुद्धि है।”
६. स्टोडर्ड ने बुद्धि के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए कहा है—बुद्धि वह योग्यता है, जिसमें कठिनाई, जटिलता,

अमूर्तता, मितव्ययता, उद्देश्य के प्रति अनुकूलता, सामाजिक मूल्य, मौलिकता आदि विशेषताएँ हों तथा भावनात्मक व्यक्तियों के प्रति सहनशील हों।

७. गैरेट के अनुसार—“ऐसी समस्याओं को हल करने की योग्यता, जिनमें ज्ञान और प्रतीकों के समझने एवं प्रयोग की आवश्यकता हो; जैसे—शब्द, अंक, रेखाचित्र, समीकरण और सूत्र ही ‘बुद्धि’ है।

८. बंकिघम के शब्दों में—“सीखने की शक्ति बुद्धि है।”

९. थार्नडाइक के शब्दों में—“वास्तविक परिस्थिति के अनुसार अपेक्षित प्रतिक्रिया की योग्यता ही बुद्धि है।”

डॉ. हण्ट, जो इलिनोयस विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के आचार्य रहे हैं, उन्होंने बुद्धि के सन्दर्भ में आधुनिक विचार दिये हैं। उनके विचारों में “बुद्धि समस्याओं को हल करने की योग्यता है, किन्तु यह साधारण रूप से एक इकाई रूपी शक्ति नहीं है। यह एक क्रमबद्ध ऊपर की ओर बढ़ने वाली सीखने की योग्यता है, बाद की योग्यताएँ पहले वाली योग्यताओं को अपने में समाहित करती रहती हैं।” इस प्रकार हण्ट के अनुसार मस्तिष्क का विचार एक महान् सूचनाकर्ता के रूप में समझा जा सकता है। यह किसी मानव द्वारा बनाये हुए कम्प्यूटर से कहीं अधिक जटिल है। इसमें सूचना ध्वनि, दृश्य, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भेजी जाती है। मस्तिष्क इस बड़े भण्डार को अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सूचनाओं को संकेतों में परिवर्तित कर देता है, जो अर्थपूर्ण जीवन के लिए उपयोग किये जा सकते हैं।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समष्टि रूप से देखा जाए तो बुद्धि में निम्न प्रकार की योग्यताएँ हैं—

१. सीखने की योग्यता,

२. अमूर्त चिन्तन की योग्यता,

३. समस्या का समाधान करने की योग्यता,

४. अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता,

५. सम्बन्धों को समझने की योग्यता,

६. अपने वातावरण से सामंजस्य करने की योग्यता।

इस प्रकार उपरोक्त सभी प्रकार की परिभाषाएँ किसी-न-किसी प्रकार से ‘बुद्धि’ की व्याख्या करती हैं। उन सबकी अपनी उपयोगिता है, क्योंकि वे विभिन्न दृष्टिकोण से बौद्धिक माप के ऊपर प्रकाश डालती हैं। ये परिभाषाएँ किसी भी रूप में बुद्धि की व्याख्या करती हों, परन्तु सभी एक विशेष दिशा में संकेत करती हैं।

### ३.२.२ बुद्धि एवं स्मृति में अन्तर

बुद्धि एवं बुद्धि के विविध प्रकारों को समझ लेने के पश्चात् एक प्रश्न सहज ही मन में खड़ा हो जाता है कि क्या बुद्धि और स्मृति एक ही है? अगर नहीं तो दोनों में क्या अन्तर है?

यद्यपि स्मृति भी बुद्धि की तरह एक मानसिक क्रिया ही है, परन्तु जहाँ बुद्धि सीखने की क्षमता अथवा विभिन्न परिस्थितियों में समायोजन की क्षमता है, वहीं स्मृति एक अर्जित अनुभव है।

स्टर्ट एवं ओकडन के अनुसार ‘स्मृति’ एक जटिल शारीरिक और मानसिक प्रक्रिया है, जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—जब व्यक्ति किसी वस्तु को छूता, देखता या सूँघता है, तब हमारे ‘ज्ञान वाहक तन्तु’ (sensory nerves) उस अनुभव को हमारे मस्तिष्क के ‘ज्ञान केन्द्र’ (sensory centre) में पहुँचा देते हैं। ‘ज्ञान-केन्द्र’ में उस अनुभव की प्रतिमा बन जाती है। जिसे छाप (engram) कहते हैं। यह ‘छाप’ ही उस अनुभव का स्मृति-चिह्न होता है, जिसके कारण मानसिक रूप में कुछ परिवर्तन होता है। यह अनुभव कुछ समय तक हमारे चेतन मन में रहने के बाद ‘अचेतन मन’ में चला जाता है और हम उस अनुभव को भूल जाते हैं। उस अनुभव को अचेतन मन में संचित रखने और चेतन मन में लाने की प्रक्रिया को ‘स्मृति’ कहते हैं।

वुडवर्थ के शब्दों में जो बात पहले सीखी जा चुकी है, उसे स्मरण रखना ही स्मृति है। स्काउट ने स्मृति को एक आदर्श पुनरावृत्ति माना है तो मैकडूगल के शब्दों में “स्मृति से तात्पर्य अतीत की घटनाओं की कल्पना करना और इस तथ्य को पहचान लेना की ये अतीत के अनुभव हैं।”

इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों ने स्मृति को सुन्दर ढंग से परिभाषित कर बुद्धि और स्मृति में होने वाले अन्तर को बहुत अच्छी प्रकार से स्पष्ट किया है। इसके अलावा मनोवैज्ञानिकों ने जिस प्रकार बुद्धि के विविध प्रकारों को स्पष्ट कर ‘बुद्धि’ को अच्छी तरह से समझने में सहयोग दिया है, उसी प्रकार उन्होंने स्मृति को भी समझने के लिए स्मृति के प्रकारों का उल्लेख किया है, जिसे



समझ लेने पर बुद्धि और स्मृति में अन्तर कर पाना और अधिक सरल कार्य हो सकता है। मनोवैज्ञानिक स्टाउट ने स्मृति के १२ प्रकारों की चर्चा की है, जो निम्नलिखित हैं—

**१. व्यक्तिगत स्मृति**—स्टाउट के अनुसार इस स्मृति में व्यक्ति अपने अतीत के व्यक्तिगत अनुभवों का स्मरण रखते हैं। जैसे—परीक्षा का समय हो और अचानक पेन में स्याही खत्म हो जाए और ऐसे समय में कोई व्यक्ति हमारी मदद करे तो यह बात हमेशा याद रहती है। इस प्रकार की स्मृति व्यक्तिगत स्मृति है।

**२. अव्यक्तिगत स्मृति**—हम बहुत-सी बातें बिना अतीत के अनुभवों के भी याद रखते हैं, जैसे—पुस्तकीय ज्ञान। हमने कोई पुस्तक पढ़ी, उस पुस्तक की अच्छी बातें हमें सहज ही याद रहती हैं।

**३. स्याही स्मृति**—ऐसी बात जो हम कभी नहीं भूलते हैं, स्याही स्मृति कहलाती है। जैसे—स्वयं का नाम। ऐसा कभी नहीं होता कि हम अपना नाम भूल जाएँ। रात में नींद से उठाकर पूछा जाए तो भी व्यक्ति को स्वयं का नाम याद रहता है।

**४. तात्कालिक स्मृति**—इस स्मृति में वे बातें आती हैं, जिन याद की हुई बातों को हम तत्काल सुना देते हैं, परन्तु कुछ समय बाद भूल जाते हैं।

**५. सक्रिय स्मृति**—इस स्मृति में हम अपने पिछले अनुभवों का पुनः स्मरण करने के लिए प्रयास करते हैं। जैसे—छात्रों को वर्णनात्मक निबन्ध लिखते समय उससे संबंधित तथ्यों का स्मरण करने के लिए प्रयास करना पड़ता है।

**६. निष्क्रिय स्मृति**—जिस स्मृति के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। अपने आप वह बात याद आ जाती है। भोजन का समय होते ही हमें भोजन की स्मृति हो जाती है। किसी दूसरे के द्वारा याद नहीं करवाना पड़ता। इसी प्रकार के अन्य और भी दैनिक कार्य हैं, जिन्हें हमें याद नहीं करना पड़ता। अपने आप ही याद आ जाते हैं।

**७. तार्किक स्मृति**—इस स्मृति में किसी बात को भली-भाँति सोच-समझकर और तर्क करके स्मरण करते हैं।

**८. यांत्रिक स्मृति**—इस स्मृति में हम किसी तथ्य को या किसी प्रश्न के उत्तर को बिना सोचे-समझे रटकर स्मरण करते हैं। पहाड़ों को याद करने और रटने की साधारण विधि यही है।

**९. आदत स्मृति**—इस स्मृति में स्टाउट के अनुसार हम किसी कार्य को बार-बार दोहराकर और उसे आदत का रूप देकर स्मरण करते हैं। हम उसे जितनी अधिक बार दोहराते हैं, उतनी ही अधिक उसकी स्मृति हो जाती है।

**१०. शारीरिक स्मृति**—इस स्मृति में हम अपने शरीर के किसी अंग या अंगों द्वारा किये जाने वाले कार्य का स्मरण रखते हैं। हमें ऊँगलियों से टाइप करना और हारमोनियम बजाना स्मरण रहता है।

**११. इन्द्रिय अनुभव**—इस स्मृति में हम इन्द्रियों का प्रयोग करके अतीत के अनुभवों को फिर से स्मरण कर सकते हैं। जैसे—बन्द आँखों से आम का छूकर, चखकर या सूँघकर स्मरण कर लेना की यह कौन सा फल है ?

**१२. शुद्ध स्मृति**—इस स्मृति में हम याद किये हुए तथ्यों का स्वतन्त्र तथा यथार्थ रूप में पुनः स्मरण कर सकते हैं। हम जो कुछ याद करते हैं, उसका हमें क्रमबद्ध ज्ञान रहता है। इसीलिए, इस स्मृति को सर्वोत्तम स्मृति माना जाता है।

---

### ३.३ बुद्धि के प्रकार

---

यद्यपि बुद्धि का विभाजन करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि बुद्धि तो वह क्षमता है, जिसका उपयोग व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों तथा परिवेश में करता है। फिर भी मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न परिस्थिति एवं परिवेश में उपयोग की जाने वाली बुद्धि को उसकी परिस्थिति एवं परिवेश के आधार पर विभिन्न भागों में वर्गीकृत किया है। गैरिट ने तीन प्रकार की बुद्धि का उल्लेख किया है—

**१. मूर्त बुद्धि**—इस बुद्धि को 'गामक' या यांत्रिक बुद्धि (motor or mechanical intelligence) भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध यंत्रों और मशीनों से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धि होती है, वह यंत्रों और मशीनों के कार्य में विशेष रुचि लेता है। अतः इस बुद्धि के व्यक्ति अच्छे कारीगर, मैकेनिक, इंजीनियर, औद्योगिक कार्यकर्ता आदि होते हैं।

**२. अमूर्त बुद्धि**—इस बुद्धि का सम्बन्ध पुस्तकीय ज्ञान से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धि होती है, वह ज्ञान का अर्जन करने में विशेष रुचि लेता है। अतः इस बुद्धि के व्यक्ति अच्छे वकील, डॉक्टर, दार्शनिक, चित्रकार, साहित्यकार आदि होते हैं।

**३. सामाजिक बुद्धि** - इस बुद्धि का सम्बन्ध व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धि होती है, वह मिलनसार, सामाजिक कार्यों में रुचि लेने वाला और मानव-सम्बन्ध के ज्ञान से परिपूर्ण होता है। अतः इस बुद्धि के व्यक्ति अच्छे मित्र, व्यवसायी, कूटनीतिज्ञ और सामाजिक कार्यकर्ता होते हैं।

**ई.एल. थॉर्नडाइक (E.L. Thorndike) ने बुद्धि के तीन प्रकार बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं -**  
**१. अमूर्त बुद्धि, २. सामाजिक बुद्धि, ३. यांत्रिक बुद्धि।**

**१. अमूर्त बुद्धि** - अमूर्त चिन्तन से तात्पर्य वैसी मानसिक क्षमता से होता है, जिसके सहारे व्यक्ति शाब्दिक तथा गणितीय संकेतों एवं चिह्नों के संबंधों को आसानी से समझ जाता है तथा उसकी उचित व्याख्या कर पाता है। थॉर्नडाइक के शब्दों में पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अपने को व्यवस्थित करने की योग्यता 'अमूर्त बुद्धि' कहलाती है। ऐसे व्यक्ति जिनमें अमूर्त बुद्धि अधिक होती है, एक सफल कलाकार, पेन्टर तथा गणितज्ञ आदि होते हैं। अमूर्त बुद्धि स्वयं अपने को ज्ञानोपार्जन के प्रति रुझान, पढ़ने-लिखने और शब्दों एवं प्रतीकों के रूप में आने वाली समस्याओं को हल करने के द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त करती है। यह वह शक्ति है, जो शब्दों और प्रतीकों के प्रति प्रतिभाशाली व्यवहार के रूप में व्यक्त होती है। जिस व्यक्ति में इस प्रकार की बुद्धि होती है, वह पाठशाला के ज्ञानोपार्जन के वातावरण में सबसे अधिक सफल होता है।

कोई भी व्यक्ति अमूर्त बुद्धि की कितनी मात्रा से युक्त है, इसकी जानकारी निम्नांकित विधि से की जा सकती है -

१. बौद्धिक कार्यों में आने वाली कठिनाइयों के किस स्तर तक के कठिन कार्य को वह कर सकता है।
२. समान कठिनाई के विविध बौद्धिक कार्यों की संख्या, जिन्हें वह कर सकता है।
३. किस वेग अथवा गति से वह इन कार्यों को पूरा कर सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि अमूर्त बुद्धि त्रिमुखी है। स्तर, क्षेत्र और वेग-गति ही उसके तीन विभिन्न आयाम हैं। यदि इस अमूर्त बुद्धि में किसी प्रकार की कमी हो तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य दो प्रकार की बुद्धि में भी किसी प्रकार की कमी होगी। अमूर्त बुद्धि के कम होने पर भी अन्य बुद्धि ठीक हो सकती है। बुद्धि की मात्रा विभिन्न व्यक्तियों में उनकी अनुभव करने, समझने और याद करने की शक्ति के अनुसार कम या अधिक होती है।

**२. सामाजिक बुद्धि** - अपने समाज के अनुकूल व्यवस्थित करने की योग्यता ही 'सामाजिक बुद्धि' है। यह दूसरे लोगों के साथ अनुकूल तथा प्रभावपूर्ण व्यवहार करने की क्षमता है। दूसरों के साथ सदाचरण करने, उनसे मिल-जुलकर रहने, उनके साथ विकास के कार्यों में भाग लेने और सामाजिक कामों में रुचि लेने की योग्यता ही सामाजिक बुद्धि है।

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सामाजिक बुद्धि नितान्त आवश्यक होती है। बहुत से व्यक्ति ऐसे भी देखे जाते हैं, जिनमें अमूर्त बुद्धि तो अत्यधिक होती है, किन्तु सामाजिक बुद्धि के अभाव के कारण वे जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाते।

**३. यांत्रिक बुद्धि** - थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि का तीसरा प्रकार है - 'यांत्रिक बुद्धि'। यह बुद्धि यंत्रों तथा मशीनों के साथ कार्य करने की क्षमता या योग्यता है। इसके होने से व्यक्ति एक कुशल कारीगर, मिस्री, चालक अथवा दक्ष इंजीनियर हो सकता है। यह ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति उन परिस्थितियों में, जिनका सम्बन्ध यंत्रों अथवा भौतिक पदार्थों से होता है, अपने को सुव्यवस्थित कर लेता है। एक बालक, जिसमें अपनी साइकिल ठीक करने, घंटी को स्वयं बना लेने, घड़ी ठीक कर लेने की क्षमता है तो यह कहा जाएगा कि बालक की यांत्रिकी बुद्धि अच्छी है।

इस बुद्धि में भी अन्तर पाया जाता है। कोई व्यक्ति छोटे-से और स्थूल यंत्र को भी ठीक नहीं कर सकता। थोड़ी-सी साइकिल बिगड़ गई, उन्हें पता नहीं चलता कि क्या खराबी है? वह साइकिल वाले की दुकान पर चले जाएँगे। वहीं दूसरा व्यक्ति अपने घर की बिजली की व्यवस्था स्वयं ठीक कर लेता है। साइकिल, घड़ी, मोटर भी ठीक कर लेता है। यही यांत्रिकी बुद्धि है। यद्यपि इस बुद्धि को अभ्यास से बढ़ाया जा सकता है। फिर भी कुछ लोग बहुत मेहनत के बावजूद भी कुशल कारीगर एवं इंजीनियर नहीं बन पाते। इस प्रकार थॉर्नडाइक के अनुसार जिन व्यक्तियों में यांत्रिक बुद्धि का विकास कम होता है, वे खेलों और अन्य शारीरिक कार्यों में भी कुशलता पूर्वक भाग नहीं ले सकते तथा हीन और दबू प्रकृति के होते हैं।

## ३.४ बुद्धि के सिद्धान्त

बुद्धि क्या है? वह किन तत्त्वों से निर्मित है? वह किस प्रकार कार्य करती है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास अनेक मनोवैज्ञानिकों ने किया है। फलस्वरूप उन्होंने बुद्धि के अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इस आधार पर हम बुद्धि के चार सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे, जिन्हें सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है— १. एक खण्ड सिद्धान्त, २. द्वि-खण्ड सिद्धान्त, ३. तीन खण्ड सिद्धान्त। ४. बहुखण्ड का सिद्धान्त।

**१. एक खण्ड सिद्धान्त** - इस सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रांस के मनोवैज्ञानिक 'अल्फ्रेड बिने' तथा अमेरिका के मनोवैज्ञानिक हर्मन ने किया। इनके अनुसार बुद्धि अपने आपमें पूर्ण एक खण्ड है, एक इकाई है, अविभाज्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि व्यक्ति किसी एक विशेष क्षेत्र में निपुण है तो वह अन्य क्षेत्रों में भी निपुण होगा। जैसे— कोई बालक पढ़ने में बुद्धिमान है, अच्छे अंक प्राप्त करता है तो वह अन्य क्षेत्र, संगीत, खेल आदि में भी आगे होगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार— "बुद्धि वह शक्ति है, जो समस्त मानसिक कार्यों को प्रभावित करती है।"

**२. द्विखण्ड सिद्धान्त**— इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'स्पीयर मेन' ने किया। स्पीयर मेन ने बुद्धि को दो खण्डों का योग माना। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में दो प्रकार की बुद्धि होती है— सामान्य बुद्धि और विशिष्ट बुद्धि।

### (i) सामान्य बुद्धि

स्पीयर के अनुसार सामान्य योग्यता सभी व्यक्तियों में कम या अधिक मात्रा में पायी जाती है, जैसे— सभी मनुष्य गाना जानते हैं। कौन कितना अच्छा गाता है, यह अलग बात है। परन्तु गाने की योग्यता सभी में होती है। इस प्रकार स्पीयर मेन ने सामान्य बुद्धि के अन्तर्गत पायी जाने वाली कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है—

१. यह बुद्धि अथवा योग्यता बुद्धि में जन्मजात होती है।
२. यह उसमें सदैव एक-सी रहती है।
३. यह उसके सब मानसिक कार्यों में प्रयोग की जाती है।
४. यह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होती है।
५. यह जिस व्यक्ति में जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक वह सफल होता है।
६. यह भाषा, विज्ञान, दर्शन आदि में सामान्य सफलता प्रदान करती है।

### (ii) विशिष्ट बुद्धि

यह वह बुद्धि है, जिसके द्वारा व्यक्ति कुछ विशिष्ट कार्यों को करता है। कला-कौशल, हस्तकला, नृत्यकला, संगीतकला आदि में सिद्धहस्तता विशिष्ट बुद्धि खण्ड के द्वारा ही प्राप्त होती है। विशिष्ट योग्यता अथवा बुद्धि की भी निम्न विशेषताएँ हैं—

१. ये योग्यताएँ अर्जित की जा सकती हैं।
२. ये योग्यताएँ अनेक और एक-दूसरे से स्वतंत्र होती हैं।
३. विभिन्न योग्यताओं का सम्बन्ध विभिन्न कुशल कार्यों से होता है।
४. ये योग्यताएँ विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न और अलग-अलग मात्रा में होती हैं।
५. ये योग्यताएँ भाषा, विज्ञान, दर्शन आदि में विशेष सफलता प्रदान करती हैं।

**३. तीन खण्ड का सिद्धान्त**— यह सिद्धान्त भी स्पीयर मेन के नाम से सम्बन्धित है। दो खण्ड का सिद्धान्त प्रतिपादित करने के बाद उसने बुद्धि का एक खण्ड और बताया। उन्होंने इसका नाम सामूहिक खण्ड रखा। स्पीयर ने इस खण्ड में ऐसी योग्यताओं को स्थान दिया, जो 'सामान्य योग्यता' से श्रेष्ठ और 'विशिष्ट योग्यताओं' से निम्न होने के कारण उनके मध्य का स्थान ग्रहण करती हैं।

**४. बहुखण्ड का सिद्धान्त**— इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक कैली और थर्स्टन ने किया। कैली के अनुसार बुद्धि— १. रुचि, २. गामक योग्यता, ३. सामाजिक योग्यता, ४. सांख्यिक योग्यता, ५. शाब्दिक योग्यता, ६. शारीरिक योग्यता, ७. संगीतात्मक योग्यता, ८. यांत्रिक योग्यता, ९. स्थान सम्बन्धी विचार योग्यता आदि नौ-खण्डों का योग है।

थर्स्टन के अनुसार बुद्धि १३ मानसिक योग्यताओं का योग है, जो निम्नलिखित हैं—

१. स्मृति,
२. प्रत्यक्षीकरण की योग्यता,
३. सांख्यिकी योग्यता,
४. शाब्दिक योग्यता,
५. तार्किक योग्यता,
६. निगमनात्मक योग्यता,
७. आगमनात्मक योग्यता,
८. स्थान-सम्बन्धी योग्यता,
९. समस्या-समाधान की योग्यता,

मनोवैज्ञानिकों ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के अलावा बुद्धि के सम्बन्ध में कुछ अन्य सिद्धान्त भी प्रतिपादित किये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

**५. मात्रा सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त का प्रतिपादन थार्नडाइक ने किया। इन्होंने 'सामान्य मानसिक योग्यता' के समान किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं किया। इनके अनुसार "मस्तिष्क का गुण स्नायु तन्तुओं (न्युरॉन्स) की मात्रा पर निर्भर है।" अर्थात् बुद्धि उतनी ही अधिक अच्छी होती है, जितने अधिक मस्तिष्क और स्नायुमण्डल के सम्बन्ध होते हैं, क्योंकि व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं के आधार यही सम्बन्ध है।

**६. वर्ग घटक सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जी. थामसन ने किया। जी. थामसन ने बुद्धि को अनेक विशिष्ट योग्यताओं तथा विशेषताओं का समूह माना है। इनके अनुसार एक ही वर्ग में अनेक प्रकार की विशेषताएँ होती हैं, जैसे—व्यावसायिक योग्यता में प्रबन्ध, बिक्री, क्रय, उत्पादन, जन-सम्पर्क आदि अनेक योग्यताएँ निहित होती हैं।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के अलावा बुद्धि के सम्बन्ध में ओर भी सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। पर इनमें से कोई भी सिद्धान्त न तो बुद्धि के स्वरूप और न व्यक्ति की सामान्य एवं विशिष्ट योग्यताओं के बारे में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच पाया है।

इसीलिए बुद्धि के सम्बन्ध में आधुनिक विचारों को व्यक्त करते हुए विहटमर ने लिखा है— "इस बात में बहुत सन्देह है कि बुद्धि के समान कोई स्वतन्त्र इकाई है। अतः यह कहने के बजाय कि व्यक्ति में बुद्धि है, यह कहना अधिक उपयुक्त है कि वह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार करता है।"

### ३.५ बुद्धि लब्धि

हम अपने पास-पड़ोस के बच्चों को देखते हैं। विद्यालय के विद्यार्थियों को देखते हैं तो उन एक ही समूह में रहने वाले बच्चों में भी बुद्धि के स्तर पर अनेक भिन्नताएँ नजर आती हैं। कुछ बालक उम्र से पहले ही पढ़ना सीख लेते हैं। उम्र से पहले ही कठिन सवालों का भी सरलता से उत्तर दे देते हैं। वहीं कुछ बालक उम्र से अधिक होने पर भी अपनी उम्र से कम उम्र वाले प्रश्नों का जवाब नहीं दे सकते। इस भिन्नता का प्रमुख कारण है 'बुद्धि लब्धि'। जिस बालक की बुद्धि लब्धि जितनी कम होती है, वह उतना ही मन्द एवं मूर्ख होता है। जैसा कि बालकों के शारीरिक स्तर पर जिस प्रकार भिन्नता देखी जाती है कि कुछ बालक समय से पहले चलना सीख लेते हैं, दाँत भी जल्दी निकल आते हैं, बोलना शुरू कर देते हैं, ठीक इसी प्रकार उनके मानसिक स्तर पर भी भिन्नता पायी जाती है। एक बालक ३ वर्ष की अवस्था में कविता पाठ करने लगता है तो दूसरा बालक शब्दों का साफ-साफ उच्चारण भी नहीं कर पाता। मनोवैज्ञानिकों ने इस भिन्नता का कारण बुद्धि लब्धि को ही माना है।

बुद्धि लब्धि जिसे अंग्रेजी में "Intelligence Quotient" 'आई क्यू' कहा गया है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किसी भी व्यक्ति को जो प्रतिभा प्राप्त होती है, उसकी मात्रा को मापने वाली इकाई 'बुद्धि लब्धि' कहलाती है। प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि लब्धि भिन्न-भिन्न होती है। उसका मापन किया जा सकता है। बुद्धि लब्धि के मापन के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि व्यक्ति मूर्ख है या सामान्य है या प्रतिभा-सम्पन्न है।

मनोवैज्ञानिक हरमैन एवं रॉविन्सन ने अपने अध्ययन के आधार पर एक सूची का निर्माण किया है, जिसको डॉ. मैरिब ने मान्य किया है। इस सूची के आधार पर व्यक्ति दूसरों की ही नहीं अपितु स्वयं की बुद्धि लब्धि भी ज्ञात कर सकता है—

क्र.सं.	बुद्धि-लब्धि	प्रतिभा
०१.	१४०-१६९	अत्युत्कृष्ट
०२.	१२०-१३९	उत्कृष्ट
०३.	११०-११९	सामान्य से ऊपर
०४.	९०-१०९	सामान्य
०५.	८०-८९	सामान्य से नीचे
०६.	७०-७९	हीन बुद्धि की सीमा रेखा
०७.	६०-६९	मूर्ख
०८.	५०-५९	मूर्ख
०९.	२५-४९	मूढ़
१०.	०-२४	जड़

इस प्रकार उपरोक्त तालिका में भिन्न-भिन्न बुद्धि-लब्धि बताई गई हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि बुद्धि-लब्धि कैसे निकाली जाए।

वस्तुतः मनोवैज्ञानिक ने बुद्धि लब्धि निकालने के लिए कुछ परीक्षणों का निर्माण किया है। इन परीक्षणों में अनेक प्रकार के प्रश्न होते हैं। प्रयोज्य को इन प्रश्नों का उत्तर निश्चित समयावधि में देना होता है। इन दिये गए उत्तरों से प्रयोज्य की मानसिक आयु निकाली जाती है। मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग देने पर जो इकाई प्राप्त होती है, वही बुद्धि लब्धि कहलाती है। उदाहरण के लिए किसी बालक की वास्तविक आयु १० वर्ष है परन्तु वह परीक्षण करने पर यदि १२ वर्ष के बालकों के प्रश्नों को हल कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु होगी- १२ वर्ष। अब मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग देकर बुद्धि लब्धि प्राप्त की जा सकती है। बुद्धि लब्धि निकालने के लिए मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग देना होगा-

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \quad (\text{I.Q.} = \frac{\text{M.A.}}{\text{C.A.}})$$

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} = \frac{12}{10} = 1.2$$

प्रायः दशमलव के भागों को पूर्णांक बनाने के लिए और इससे आने वाली असुविधा को दूर करने के लिए १०० से गुणा कर दिया जाता है और संख्या को पूर्णांक बना दिया जाता है। यह केवल सुविधा की दृष्टि से किया जाता है। इसी उदाहरण में-

$$\text{बुद्धि लब्धि} = 1.2 \times 100 = 120$$

इस प्रकार इस उदाहरण में बालक के मानसिक विकास की गति सामान्य बालक से अधिक है। यदि किसी बालक की बुद्धि लब्धि ९५ रही होती तो उसका मानसिक विकास सामान्य माना जाता है। यदि इससे भी कम ५५, ६५ रही होती तो उस बालक का मानसिक विकास मूर्ख की श्रेणी में आता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों द्वारा निर्मित परीक्षणों की सहायता से व्यक्ति बुद्धि-लब्धि ज्ञात कर सकता है।

### ३.६ बुद्धि : अभिवृद्धि

प्रत्येक व्यक्ति जीवन में सफल होना चाहता है। दूसरों की नजरों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाना चाहता है। कोई नहीं चाहता कि लोग उसे निरीह मूर्ख समझें, उसका कोई सम्मान न हो। जीवन में सफलता, सम्मान, प्रतिष्ठा प्राप्त करने में बुद्धि का



महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। यद्यपि यह जरूरी नहीं कि सभी बुद्धिमान व्यक्ति अपने जीवन में सफलता ही हासिल करें, फिर भी व्यक्ति की बहुत कुछ सफलता उसकी बौद्धिक शक्तियों के ऊपर ही निर्भर होती है। जिन व्यक्तियों की बुद्धि-लब्धि अधिक होती है, उन्हें उतने ही अधिक अवसर मिलते हैं। अधिकांशतः चाहे स्वयं का व्यवसाय हो चाहे अन्य विशिष्ट कम्पनियों में काम करना हो, वे ही व्यक्ति अधिक सफल होते हैं तथा उन्हीं व्यक्तियों की माँग अधिक रहती है, जिनकी बौद्धिक योग्यता अच्छी है। अतः यह तो स्पष्ट है कि बुद्धि को बढ़ाना आवश्यक है। परन्तु यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या बुद्धि को बढ़ाना संभव है? बुद्धि अभिवृद्धि के संदर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन के पश्चात् अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक की बुद्धि उसकी उम्र के साथ बढ़ती है और बालक की मानसिक आयु उसके जन्म से किशोरावस्था के अन्त तक बढ़ती रहती है। जिस उम्र तक आकर बुद्धि की वृद्धि रुक जाती है, उसे ठीक-ठीक बताना अत्यन्त कठिन है।

पिन्टर के विचारों में १४ और २२ वर्ष के बीच में बुद्धि का विकास किसी भी समय रुक जाता है। टरमैन के विचार से उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के बालक अपनी बुद्धि के विकास के चरम बिन्दु पर १६ वर्ष की अवस्था में पहुँच जाते हैं। बुद्धि की अभिवृद्धि के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के अनुसार विभिन्न आयु में कुछ विशेष योग्यताएँ पायी जाती हैं—

१. २ वर्ष का बालक २ अंकों वाली संख्या को दोहरा सकता है, २७० शब्दों को समझ सकता है, एक जूते के चित्र की ओर संकेत कर सकता है।
२. ३ वर्ष का बालक ३ अंकों की संख्या को दोहरा सकता है और यह समझने लगता है कि जब उसे प्यास लगती है तो उसे क्या करना है?
३. ५ वर्ष का बालक एक वर्ग की नकल कर सकता है, यह बता सकता है कि जूता किस वस्तु का बना है।
४. १० वर्ष का बालक ६ अंकों की संख्या दोहरा सकता है, २६,००० शब्दों को समझ सकता है।
५. १४ वर्ष का बालक ३८,००० शब्दों को समझ सकता है, अमूर्त विचारों वाले शब्द, जैसे—ईमानदारी, दान आदि की परिभाषा दे सकता है।
६. १६ वर्ष का बालक ४०,००० शब्दों को समझ सकता है, जटिल शब्द, जैसे—सुस्ति और थकान में अन्तर व्यक्त कर सकता है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि के विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचने का तात्पर्य यह नहीं है कि १६ वर्ष के उपरान्त व्यक्ति में किसी भी प्रकार की बौद्धिक अभिवृद्धि नहीं हो सकती। व्यक्ति का बौद्धिक विकास ३० वर्ष या उसके बाद भी निरन्तर चालू रह सकता है किन्तु समस्याओं को हल करने की योग्यता उनमें जो १६ वर्ष में थी, वही अब ४० वर्ष में भी होगी। व्यक्ति का मानसिक विकास चाहे लगातार होता रहे, फिर भी उसमें परिस्थितियों को हल करने, उनमें अपने को व्यवस्थित करने एवं समझने की योग्यता वही रहेगी, जो किशोरावस्था में थी। वस्तुतः बाद में बुद्धि नहीं बढ़ती, ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान एक अर्जित शक्ति है, जो बुद्धि नहीं है। बुद्धि तो वह जन्मजात योग्यता है, जिसके द्वारा व्यक्ति किसी भी समस्या के हल करने के संभव साधनों को अपनी क्षमता के अनुसार जुटाता है, उसे हल करता है और अपने को वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करता है। इस प्रकार की जन्मजात बौद्धिक योग्यता किशोरावस्था की परिसमाप्ति तक पूर्ण हो चुकती है, उसमें आगे वृद्धि की संभावना नहीं है।

## बोध-प्रश्न - १

### निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. बुद्धि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बुद्धि एवं स्मृति में अन्तर स्पष्ट करें।
२. बुद्धि के प्रकारों को स्पष्ट करते हुए बुद्धि के सिद्धान्तों को समझाइये।
३. बुद्धि लब्धि से आप क्या समझते हैं? बुद्धि अभिवृद्धि के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक अवधारणा स्पष्ट करें।
४. टिप्पणी लिखें— (i) बुद्धि के प्रकार, (ii) बुद्धि लब्धि, (iii) बुद्धि : अभिवृद्धि।

## ३.७ बुद्धि : आध्यात्मिक आधार

### ३.७.१ बुद्धि : स्वरूप

सृष्टि के समस्त पदार्थों, रूप-रस आदि विषयों को तर्क-वितर्क द्वारा काँट-छाँटकर इन सबके निश्चयात्मक रूप को दर्शाने वाला तत्त्व "बुद्धि" कहलाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर बुद्धि को परिभाषित करते हुए योगाचार्यों ने लिखा— "बोधनात् बुद्धिः"। समस्त ज्ञान तथा विज्ञान मात्र को ग्रहण करके उनके भेद-प्रभेदों का निश्चयात्मक रूप से निर्णय करने वाला तत्त्व बुद्धि है। जैनाचार्यों के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होने वाला मानसिक ज्ञान बुद्धि है। धी, मति, प्रज्ञा, मनीषा, धिष्णा, शेमुषी, प्रेक्षा, उपलब्धि, मेधाः, स्मृति आदि बुद्धि के ही पर्यायवाची हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार बुद्धि के मुख्य कार्य हैं— विचार करना, स्मरण करना, सोचना-समझना, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना, कल्पना करना आदि।

### ३.७.२ बुद्धि : प्रकार

जिस प्रकार मनोविज्ञान में थार्नडाइक ने बुद्धि के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। उसी प्रकार योगाचार्यों ने भी बुद्धि के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है— १. सात्विक बुद्धि, २. राजस बुद्धि, ३. तामसिक बुद्धि।

**१. सात्विक बुद्धि**— समस्त सात्विक शुभ गुणों को धारण करना इस बुद्धि का धर्म है। योगाचार्यों के अनुसार जब सात्विक बुद्धि कार्य करती है तब बुद्धि की प्रभा शान्त, निस्तरंग, प्रातःकालीन सूर्य के समान मनोरम, दिव्य, स्वच्छ होती है। ज्ञान, वैराग्य, दया, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, शौच, स्वाध्याय, सन्तोष, तप, शम, दम, नम्रता, धैर्य, श्रद्धा, स्नेह, भक्ति, हर्ष, प्रसन्नता, वात्सल्यभाव आदि सभी शुभ भाव सात्विक बुद्धि के स्वभाव हैं।

**२. राजस बुद्धि**— यह बुद्धि रजोगुण के प्रभाव से उत्पन्न होती है। जब रजोगुण प्रधान होता है, तब 'बुद्धि' में चपलता, अस्थिरता आ जाती है, जिससे व्यक्ति सत्त्व गुण के विपरीत आचरण करने लगता है। चिन्ता, विषाद, मान, दर्प, क्रूरता, विषय-तृष्णा, विलासिता, शृंगार, काम-क्रोध, लोभ, मोह, शोक, भय, ईर्ष्या, राग, द्वेष, असूया, प्रतिशोध, बदला लेने की भावना, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य आदि सभी अशुद्ध भाव राजस-बुद्धि के लक्षण हैं।

**३. तामस बुद्धि** — यह 'बुद्धि' तमोगुण की प्रधानता होने पर प्रकट होती है। अज्ञान, हिंसा, क्रूरता, विषाद, अविवेक, आलस्य, जड़ता, प्रमाद, भय, रुदन, मूढ़ता, कपट, दम्भ, चोरी, छल आदि सभी निकृष्ट कार्य इसी बुद्धि के धर्म हैं। इन दुर्गुणों की विद्यमानता तामस बुद्धि की पहचान का माध्यम है।

जैनागमों में भी बुद्धि के चार प्रकारों का वर्णन मिलता है, जो निम्नलिखित हैं— १. औत्पत्तिकी बुद्धि, २. वैनेयिकी बुद्धि, ३. कार्मिकी बुद्धि, ४. पारिणामिकी बुद्धि।

**१. औत्पत्तिकी बुद्धि**— जो विषय पहले कभी देखने में नहीं आया, सुनने और सोचने में भी नहीं आया, ऐसा विषय उपस्थित होने पर जो बुद्धि तत्काल सही समाधान खोज निकाले, ऐसी बुद्धि 'औत्पत्तिकी बुद्धि' कहलाती है। इसे हाजिर जवाबी बुद्धि कहा जा सकता है। इस बुद्धि वाले को समय पर ऐसी युक्ति सूझती है कि प्रश्नकर्ता भी निरुत्तर हो जाता है। इस बुद्धि से जो काम किया जाता है, उसकी सफलता में कभी बाधा नहीं आती। यदि आ भी जाए तो बाधा नष्ट हो जाती है और काम में सफलता मिलकर रहती है। औत्पत्तिकी बुद्धि को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

- (१) जिसे पहले कभी घटित होते हुए आँखों से देखा नहीं।
- (२) कभी किसी जानकार से उस विषय में कुछ सुना नहीं।
- (३) मन से भी कभी उस विषय पर विचार नहीं किया।

ऐसे विषयों का भी तत्क्षण औत्पत्तिकी बुद्धि के द्वारा समाधान दिया जा सकता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है—

एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से प्रश्न किया—बोलो इस शहर में कितने कौवे हैं? दूसरा व्यक्ति औत्पत्तिकी बुद्धि का धनी था, उसने भी प्रश्न के अनुरूप उत्तर देते हुए कहा—पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस कौवे हैं। पहले वाले व्यक्ति ने पुनः प्रश्न किया, इससे न्युनाधिक हुआ तो? पहले वाला व्यक्ति बोला— "यदि कम हो तो समझ लेना इस गाँव के कौवे मेहमान बनकर बाहर गए हैं और

ज्यादा हुए तो मान लेना बाहर के कौवे मेहमान बनकर इस गाँव में आए हैं। इस प्रकार व्यक्ति ने औत्पत्तिकी बुद्धि से काम लिया और सामने वाले को निरुत्तर कर दिया।”

**२. वैनयिकी बुद्धि-** माता, पिता, गुरु-आचार्य आदि की विनय भक्ति करने से उत्पन्न होने वाली बुद्धि को वैनयिकी बुद्धि कहते हैं। वैनयिकी बुद्धि से कठिन लगने वाले कार्य भी सरल हो जाते हैं। दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं-उद्वण्ड और विनीत। जो स्वभाव से विनीत होते हैं, वे गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के अन्तःस्थल तक पहुँच जाते हैं। इन्हें गुरु से जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, इहलोक, परलोक और मोक्ष विषयक सूत्र दिये जाते हैं, उनका सार, रहस्य और मर्म स्वतः ही ध्यान में आ जाता है। जो अविनीत होता है, वह शब्दों को ही पकड़ता रहता है, अर्थ तक नहीं पहुँच पाता। इस संदर्भ में एक प्राचीन घटना है-

किसी नगर में एक सिद्धपुत्र रहता था। उसके पास दो शिष्य शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। वह उन दोनों को निमित्तशास्त्र पढ़ाता था। उन दोनों में एक विनयादि गुणों से युक्त था। वह गुरु के कथन को यथावत् बहुमान पूर्वक स्वीकार करता था। गुरु के पास जो पाठ पढ़ता, उस पर फिर विचार करता और विचार करते हुए उसे जहाँ भी सन्देह होता, तत्काल गुरु के पास जाकर विनयपूर्वक पूछ लेता था। इस प्रकार निरन्तर विनय और विवेकपूर्वक शास्त्र पढ़ते हुए उसकी विनयजन्य बुद्धि अति तीव्र हो गई। दूसरा अविनीत था। उसमें विनयादि गुण नहीं थे, इस प्रकार वह केवल शब्द ज्ञान ही प्राप्त कर सका। एक बार दोनों अपना अध्ययन सम्पन्न कर गाँव की ओर लौट रहे थे। रास्ते में मस्तक पर घड़ा रखे हुए एक बुढ़िया जा रही थी। उसने इन दोनों की आकृति आदि देखकर सोचा कि ये दोनों विद्वान् हैं, इसलिए इनसे प्रश्न पूछना चाहिए कि मेरा परदेश गया हुआ पुत्र कब लौटेगा? ऐसा सोचकर वह आगे बढ़ी। उसी समय उसके सिर पर से घड़ा नीचे गिर कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अविनीत शिष्य ने तत्काल बुढ़िया के प्रश्न को सुनते ही उत्तर दिया-“बुढ़िया जिस प्रकार घड़ा नष्ट हो गया है, उसी प्रकार तेरा पुत्र भी नष्ट हो गया है अर्थात् मर गया है।”

यह सुनते ही विनीत शिष्य ने कहा-“मित्र! ऐसा मत कहो। इसका पुत्र घर आ गया है।” फिर उसने उस बुढ़िया से कहा-“माँ घर जाओ और अपने बिछुड़े हुए पुत्र का मुँह देखो।” जिस प्रकार पानी मिट्टी से मिल गया उसी प्रकार तुम्हारा बेटा तुम्हें मिल जाएगा। बुढ़िया घर लौट आई, विनीत शिष्य की बात सही निकली। इस बात की जानकारी मिलते ही अविनीत शिष्य ने सोचा गुरु ने ज्ञान देने में पक्षपात किया है। मुझे गुरु ने अच्छी तरह नहीं पढ़ाया है।

परन्तु अविनीत शिष्य की इस सोच में यथार्थ नहीं है। गुरु तो सभी शिष्यों को एक-सा ज्ञान देते हैं परन्तु जो विनीत शिष्य होता है, वह उस पर विनयपूर्वक विचार-विमर्श करता है। विनयपूर्वक विचार-विमर्श करने से ज्ञान का विकास एवं प्रसार होता है। इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण में विनीत शिष्य को प्राप्त जो निमित्त के विषय में ज्ञान था, वह वैनयिक बुद्धि कहलाती है।

**३. कार्मिकी बुद्धि-** इसे कर्मजा बुद्धि भी कहते हैं। जो बुद्धि काम के अभ्यास करने से उत्पन्न होती है, उसे कार्मिकी बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि किसी भी विवक्षित कार्य में मन को एकाग्र करने से उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो शिल्प, कला, विविध प्रकार के कर्म करने से जो तद् विषयक नई सूझ-बूझ उत्पन्न होती है, उसे कर्मजा बुद्धि कहते हैं। इस बुद्धि के उत्पन्न होने पर व्यक्ति उस कार्य को शीघ्र ही और सुन्दर रूप में सम्पादित करने की कुशलता प्राप्त कर लेता है। इसके पश्चात् भी ज्यों-ज्यों कार्य अधिक किया जाता है तथा ज्यों-ज्यों उसका उत्तरोत्तर विचार मन्थन होता है, त्यों-त्यों उस बुद्धि में विशालता और दक्षता आती जाती है।

उदाहरण के लिए-जिसने सोने-चाँदी का कार्य करते-करते खूब अनुभव प्राप्त कर लिया है, ऐसा अनुभवी एवं प्रवीण पुरुष रात के समय अंधेरे में हाथ के स्पर्श मात्र से सोना-चाँदी आदि को यथावस्थित जान लेता है। यह उसकी कर्मजा बुद्धि है। कर्मजा बुद्धि के ऐसे अनेक उदाहरण हैं, यथा-

१. बहुत दिनों के अभ्यास के कारण जुलाहा अपनी मुट्टी में तन्तुओं को लेकर यह बतला सकता है कि इतने तन्तुओं से कपड़ा बन जायेगा या नहीं।

२. उछलने में कुशल व्यक्ति अभ्यास से आकाश में उछलने आदि की क्रियाएँ आसानी से कर लेता है।

३. सिलाई के कार्य में चतुर दर्जी कपड़े को इस तरह सिल सकता है कि दूसरे को पता ही न चले कि यह सिलाई किया हुआ है या नहीं। इस प्रकार उपरोक्त ये सभी उदाहरण कार्मिकी बुद्धि के हैं।

**४. पारिणामिक बुद्धि** - उग्र, अनुभव अथवा अवस्था के साथ जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है। 'नन्दी सूत्र' में पारिणामिकी बुद्धि को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो बुद्धि, अवस्था के परिपक्व होने से पुष्ट हुई है। जिसमें अनुमान, हेतुओं और दृष्टान्तों का अनुभव है और जिसके बल पर व्यक्ति अपना हित और कल्याण साध सकता है, उसे 'पारिणामिकी बुद्धि' कहते हैं। अनुमान, अन्य लोगों से सुने हुए तर्क और घटित हुए और घटित हो रहे दृष्टान्तों के ज्ञान से पारिणामिकी बुद्धि बढ़ती है। ज्यों-ज्यों उग्र में परिपाक आता है, त्यों-त्यों पारिणामिकी बुद्धि में परिपाक आता है। उदाहरण के लिए निम्न दृष्टान्त ज्ञातव्य है—

एक बार एक क्षत्रियाणी को चन्द्रमा पीने का दोहद उत्पन्न हुआ। चाणक्य उसी गाँव में संन्यासी के वेश में घूम रहा था। उसे जब इस दोहद का पता चला तो उसने क्षत्रियाणी के इस दोहद को पूरा करने का निश्चय किया। गाँव के बाहर एक मण्डप बनवाया। उस मण्डप के ऊपर कपड़ा तान दिया गया। कपड़े में चन्द्रमा के आकार का गोल छिद्र करवा दिया। पूर्णिमा को रात के समय जब बराबर चन्द्रमा उस छेद के ऊपर आया तब उसके नीचे एक थाली रखवा दी। जब चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब थाली में पड़ने लगा तो चाणक्य ने क्षत्रियाणी से कहा—“लो यह चन्द्रमा पी लो।” हर्षित होती हुई क्षत्रियाणी ने उसे पी लिया। जैसे ही उसने पीया, वैसे ही उस छिद्र पर वापस कपड़ा डलवा दिया गया। चन्द्रमा का प्रकाश पड़ना बन्द हो गया, जिससे क्षत्रियाणी को लगा कि उसने सचमुच चन्द्रमा को पी लिया है। इस प्रकार उसका दोहद पूरा हुआ। बाद में उस क्षत्रियाणी ने जिस पुत्र को जन्म दिया, उसका नाम रखा गया—‘चन्द्रगुप्त’। इस प्रकार चन्द्रमा को पीने का दोहद पूरा कराने में चाणक्य की पारिणामिकी बुद्धि थी। पारिणामिकी बुद्धि अनुभवों के साथ बढ़ती रहती है।

### ३.७.३ बुद्धि अभिवृद्धि एवं जीवन विज्ञान

मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि अभिवृद्धि के सन्दर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए बुद्धि बढ़ने की एक निश्चित अवस्था को ही स्वीकार किया है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि का विकास किशोरावस्था अथवा एक निश्चित उम्र तक ही होता है। उसके पश्चात् तो केवल ज्ञान में वृद्धि होती है। परन्तु जीवन विज्ञान ने बुद्धि वृद्धि के लिए अवस्था को महत्त्वपूर्ण नहीं माना है। 'नन्दी सूत्र' में निर्दिष्ट औत्पत्तिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि, कार्मिकी बुद्धि एवं पारिणामिकी बुद्धि—इन चारों प्रकार की बुद्धि को बढ़ाया जा सकता है।

#### औत्पत्तिकी बुद्धि का विकास

औत्पत्तिकी बुद्धि की अभिवृद्धि जीवन के समग्र विकास एवं सफलता पाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं, जिसमें हमें शीघ्रता से निर्णय लेना होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो औत्पत्तिकी बुद्धि से काम लेना होता है। जीवन विज्ञान में निर्दिष्ट विविध प्रयोगों की सहायता से व्यक्ति अपनी इस क्षमता को बढ़ा सकता है। महाप्राण ध्वनि, ओम् की ध्वनि का लम्बे समय तक प्रयोग, ज्ञान केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान एवं प्रतिदिन एकाग्रता के साथ 'मेरी बुद्धि का विकास हो रहा है' इस प्रकार सुझाव देने पर तथा इन सभी प्रयोगों को निष्ठापूर्वक करने से औत्पत्तिकी बुद्धि को विकसित किया जा सकता है।

#### वैनयिकी बुद्धि का विकास

विनय का सीधा-सा अर्थ है—विशेष रूप से झुकना। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**विशेषण नयति इति विनयः।** जो स्वयं के अहंकार, मान, दर्प को छोड़कर गुरु के सामने सिर झुकाता है, उनकी आज्ञा का पालन करता है। माता-पिता की आज्ञा का पालन करता है। उनके सामने विनम्र रहता है, उसकी बुद्धि स्वतः बढ़ती है। यह अनुभवपरक तथ्य है। कोई व्यक्ति प्रयोगशाला में इस सत्य को सिद्ध न भी कर सके, परन्तु अनुभव द्वारा इस तथ्य को जाना जा सकता है। इसलिए जीवन विज्ञान में विद्यार्थी के लिए विनम्र बनने के उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। विनम्रता की अनुप्रेक्षा, गुरु-भक्ति, माता-पिता की सेवा, अहं को कम करने वाले कुछ आसन, जैसे—शशांकासन आदि विविध प्रयोगों को अपनाकर व्यक्ति अपनी बुद्धि को बढ़ा सकता है। जैसे-जैसे विनम्रता बढ़ती है, व्यक्ति शब्दों से परे यथार्थ का अनुभव करने लगता है।

#### कार्मिकी बुद्धि का विकास

कार्मिकी बुद्धि अभ्यास करते रहने से प्राप्त होने वाली बुद्धि है। जीवन विज्ञान के अनुसार भी व्यक्ति अभ्यास के द्वारा अपनी

बुद्धि को बढ़ा सकता है। कहा भी गया है—“करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान” अभ्यास करते-करते जड़मति अर्थात् निरीह मूर्ख भी निश्चित रूप से सफलता प्राप्त कर सकता है, फिर जो वास्तव में बुद्धि सम्पन्न है, उनका तो कहना ही क्या? वे निश्चित रूप से प्रतिभा के उच्च शिखर तक पहुँच सकते हैं।

### पारिणामिकी बुद्धि

अवस्था, उम्र अथवा अनुभवों के साथ बढ़ने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि है। जीवन विज्ञान के अनुसार उम्र के साथ-साथ यदि शुभ भावों का विकास हो तो व्यक्ति की बुद्धि अपने आप विकसित होती है। उम्र बढ़ना एक बात है उम्र के साथ यदि व्यक्ति सत्य को पकड़ पाए और उसी के अनुरूप अपने चित्त को निर्मल बनाता चला जाए तो बुद्धि निश्चित रूप से विकसित होती है। इस प्रकार जीवन विज्ञान में बुद्धि का विकास किया जा सकता है इस बात पर बल दिया गया है। इसके साथ ही यदि हम योगाचार्यों द्वारा प्रदत्त बुद्धि के प्रकारों पर ध्यान दें तो यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की बुद्धि—सात्विक, राजस् और तामस् बुद्धि को भी अपने सत्व, रज और तमो गुणों को नियंत्रित करने पर घटाया बढ़ाया जा सकता है। यदि रजोगुण और तमोगुण को अनुशासित कर सत्त्व गुण को बढ़ाने की ओर ध्यान दिया जाए तो सात्विक बुद्धि की अभिवृद्धि हो सकती है। जैसे-जैसे सात्विक बुद्धि का विकास होता है, वैसे-वैसे व्यक्ति की ग्रहण क्षमता, सीखने की क्षमता बढ़ती जाती है।

### बोध-प्रश्न - २

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. बुद्धि के आध्यात्मिक स्वरूप को समझाइये।
२. बुद्धि के अर्थ को समझाते हुए बुद्धि के प्रकारों को स्पष्ट करें।

### ३.८ अवधान : स्वरूप

प्रायः देखा जाता है कि एक ही काम, एक ही सामर्थ्य और शक्ति वाले दो मनुष्य करते हैं, परन्तु एक अपने कार्य में सफल हो जाता है और एक असफल। समान बुद्धि वाले दो विद्यार्थी एक समान परिश्रम करते हैं। परन्तु एक पास हो जाता है, अच्छे अंक प्राप्त करता है, वहीं दूसरा फेल हो जाता है या कम अंक प्राप्त करता है। कुछ लोग ज्यादा समय कार्य करते हैं परन्तु अधिक कार्य नहीं कर पाते और कुछ कम समय कार्य करने पर भी अधिक कार्य कर लेते हैं। आखिर क्या कारण है इस भेद के पीछे? हम कारणों की खोज करें। प्रसिद्ध लेखक स्वेट मार्टिन का इस संदर्भ में कहना है कि “कार्य का सकारात्मक परिणाम केवल इस बात पर निर्भर नहीं करता कि कार्य को करने में कितनी शक्ति, कितना परिश्रम लगाया गया है अपितु इस बात पर निर्भर करता है कि कार्य को करने वाले ने कितनी तन्मयता दिखाई है, कितनी एकाग्रता से कार्य को किया है।” प्रसिद्ध विद्वान् मार्ले के शब्दों में, “संसार के प्रत्येक कार्य में विजय पाने के लिए एकाग्रचित्त होना आवश्यक है। जो लोग चित्त को चारों ओर बिखेर कर कार्य करते हैं, उन्हें सैकड़ों वर्षों तक भी सफलता का मूल्य मालूम नहीं होता।” अतः यह स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति को अपने लक्ष्य को हासिल करने तथा सफलता के चरम बिन्दु तक पहुँचने के लिए लक्ष्य-निर्माण, कार्य-निष्ठा, संकल्प-शक्ति, आत्म-विश्वास आदि विभिन्न तत्त्वों के साथ सबसे अधिक आवश्यक एवं उपयोगी तत्त्व है—‘एकाग्रता’ (अवधान)। एकाग्रता के अभाव में व्यक्ति के लिए उपरोक्त सभी गुणों के होने पर भी जीवन में सफलता प्राप्त कर पाना कठिन है।

#### ३.८.१ अवधान : अर्थ एवं परिभाषाएँ

योग के क्षेत्र में एक प्रचलित शब्द है—‘ध्यान’। परन्तु ‘अवधान’ शब्द अनेक लोगों के लिए अभी भी अपरिचित है। अवधान शब्द ध्यान का ही पर्यायवाची है। यत्र-तत्र बिखरी हुई चेतना को समेटकर एक दिशागामी बना देना अथवा किसी एक आलम्बन पर टिका देना ही ध्यान है, यही अवधान है। अवधान शब्द को अंग्रेजी में “Attention” कहते हैं। हिन्दी भाषा में इसके पर्यायवाची हैं—ध्यान, एकाग्रता, केन्द्रीकरण आदि। यद्यपि योग की भाषा में अवधान और ध्यान में थोड़ा-सा अन्तर है। ‘योग की भाषा में मन की तीन अवस्थाएँ हैं—अवधान (एकाग्रता, केन्द्रीकरण), धारणा और ध्यान। मनोविज्ञान में भी अवधान ध्यान की इन तीन अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है, वहाँ पर मन की अवस्थाओं के लिए अटेन्शन, कॉन्सन्ट-शन और मेडिटेशन—इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है।



मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य अपने परिवेश की वस्तुओं की ओर ध्यान देता है। परन्तु कोई भी व्यक्ति परिवेश अर्थात् अपने आस-पास की सम्पूर्ण वस्तुओं की ओर समान रूप से ध्यान नहीं देता। प्रत्येक व्यक्ति परिवेश की वस्तुओं में चुनाव करता है और कुछ विशेष वस्तुओं की ओर ही ध्यान देता है। यह चयनात्मक प्रक्रिया ही अवधान है।

विलियम जेम्स ने अवधान को चेतना के आधार पर परिभाषित किया है। जेम्स के अनुसार चेतना अबाध गति से प्रवाहित होने वाली एक धारा या झरने की तरह होती है। व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रक्रियाएँ, जैसे—संवेदनाएँ, विचार, अनुभूति आदि चेतना का निर्माण करती हैं। कुछ प्रक्रियाएँ चेतना में और कुछ ध्यान के सीमान्त प्रदेश में स्थित रहती हैं। कुछ विचार चेतना के केन्द्र में और कुछ चेतना के सीमान्त प्रदेश में स्थित रहते हैं। सीमान्त प्रदेश के विचारों को चेतना के केन्द्र में लाया जा सकता है। यह क्रिया मस्तिष्क के द्वारा होती है। किन् विचारों को सीमान्त प्रदेश से चेतना केन्द्र के लिए चयन करना है, यह कार्य भी मस्तिष्क करता है। मस्तिष्क जब इन विचारों को चेतना के केन्द्र में स्थापित कर देता है, तब व्यक्ति उस विचार या कार्य के प्रति सजग हो जाता है। यह सजगता ही जेम्स के विचारों में अवधान है।

कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों ने अवधान को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

१. वुण्ट के अनुसार—“अवधान वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा उद्दीपक चेतना के सीमा प्रदेश से चेतना के केन्द्र में आ जाता है।”

२. डमविल के शब्दों में—“किसी दूसरी वस्तु के बजाय एक ही वस्तु पर चेतना का केन्द्रीकरण अवधान है।”

३. रास के अनुसार—“विचार की किसी वस्तु को मस्तिष्क के सामने स्पष्ट रूप से उपस्थित करने की प्रक्रिया अवधान है।”

४. मार्गन एवं गिलीलैंड के अनुसार—“अपने वातावरण के किसी विशिष्ट तत्त्व की ओर उत्साहपूर्वक जागरूक होना ध्यान कहलाता है। यह किसी अनुक्रिया के लिए पूर्व समायोजन है।”

५. अवधान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्नाइड, ग्रास और उनके साथियों ने कहा है कि “अवधान टार्च की रोशनी की भांति है, जिसे व्यक्ति अपने चेतन मन से अपने वातावरण में घटित होने वाली घटनाओं की ओर निर्देशित करता है अथवा अपने मानसिक क्षेत्र में हो रही आन्तरिक घटनाओं की ओर निर्देशित करता है।

६. मैटलिन के अनुसार, “मानसिक क्रिया की एकाग्रता ही अवधान है।”

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अवधान को भिन्न-भिन्न ढंग से परिभाषित किया है। परन्तु सबका मूल मत एक ही है। सभी के अनुसार—“चेतना” व्यक्ति का स्वाभाविक गुण है। चेतना के ही कारण व्यक्ति को विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान होता है। यदि वह कमरे में बैठा हुआ पुस्तक पढ़ रहा है, तो उसे वहाँ की सभी वस्तुओं की कुछ न कुछ चेतना अर्थात् जानकारी अवश्य होती है, जैसे—मेज, कुर्सी, अलमारी आदि। परन्तु उसकी चेतना के केन्द्र में वह पुस्तक है, जिसे वह पढ़ रहा है। इस प्रकार चेतना का किसी एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाना ‘अवधान’ कहलाता है।

### ३.८.२ अवधान की विशेषताएँ

अवधान संबंधी कुछ परिभाषाओं का विश्लेषण करने मात्र से अवधान की सम्पूर्ण प्रकृति का आभास नहीं हो पाता है। इसलिए इसकी विशेषताओं के विषय में जानकारी होना भी अत्यन्त आवश्यक है। अवधान की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

**१. अवधान एक चयनात्मक प्रक्रिया है—** प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक अवधान की इस विशेषता से सहमत हैं कि अवधान एक चयनात्मक प्रक्रिया है। एक व्यक्ति अपने चारों ओर के वातावरण में उपस्थित अनेक उद्दीपकों, वस्तुओं या घटनाओं में से कुछेक उद्दीपकों, वस्तुओं या घटनाओं को ही गहराई से ग्रहण करता है। अन्य घटनाओं की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। उदाहरण के लिए किसी नेता का भाषण सुनते समय हमारा अवधान उस नेता की आवाज, उसके चेहरे एवं भाव के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं होता जबकि भाषण स्थल पर अनेक अन्य पदार्थ भी हैं। परन्तु अन्य पदार्थ उस समय चेतना के केन्द्र में नहीं होते। ऐसा हम जान-बुझकर करते हैं। यही अवधान की चयनात्मक प्रक्रिया है। व्यक्ति जिस पर एकाग्र होता है, जिस चीज को ग्रहण करता है, यह उसके चयन पर निर्भर है, इसलिए चयनात्मक प्रक्रिया को अवधान की एक विशेषता के रूप में स्वीकार किया गया।

**२. अवधान क्षणिक होता है-** अवधान का अर्थ है- किसी वस्तु पर एकाग्र होना। एकाग्रता लम्बे समय तक रह नहीं पाती। व्यक्ति वस्तु, विचार या घटनाओं को देखता है, तब वह उस पर एकाग्र रहने का भी प्रयास करता है परन्तु कुछ ही क्षणों में एकाग्रता भंग हो जाती है। इसका कारण यह है कि ध्यान की यह प्रकृति है कि वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर गति करता है। यद्यपि एकाग्रता का अभ्यास होने पर एक विषय पर लम्बे समय तक ध्यान को टिकाया जा सकता है। परन्तु मूलतः अवधान की प्रकृति क्षणिक है।

**३. अवधान एवं चेतना केन्द्र-** अवधान एक ऐसी प्रक्रिया है, जो वस्तुओं, विचारों, घटनाओं एवं अन्य उद्दीपकों को चेतना के केन्द्र में स्थापित कर देती है।

**४. अवधान का विस्तार-** अवधान की स्थिति में एक समय में केवल एक ही उद्दीपक, विचार, वस्तु या घटना को केन्द्रीकृत किया जा सकता है। एक समय में बहुत सारे उद्दीपकों पर व्यक्ति ध्यान नहीं दे सकता। इससे यह निश्चित है कि अवधान का विस्तार सीमित होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति के सामने एक साथ २०-३० भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगीन कलम कुछ समय के लिए उपस्थित कर हटा लिया जाए तो व्यक्ति उसमें से सामान्यतः ७-८ कलम के बारे में ही बतला पायेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि अवधान का विस्तार सीमित होता है।

**५. अवधान गत्यात्मक होता है-** अवधान की प्रकृति गत्यात्मक होती है। इसी कारण से अवधान को चंचल कहा गया है। अवधान प्रक्रिया में इतनी अधिक गत्यात्मकता पाई जाती है कि चेतना के केन्द्र में कभी एक उद्दीपक होता है तो कभी दूसरा उद्दीपक। उदाहरण के लिए जब हम किसी अजनबी को देखते हैं तब हमारा ध्यान कभी उसके चेहरे पर, कभी सिर के बाल पर, कभी उसके पहनावे पर तो कभी उसके हाव-भाव पर जाता है। यहां यह स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर हमारा ध्यान इधर से उधर होता रहता है। ध्यान में इस तरह के परिवर्तन को अवधान अस्थिरता कहा जाता है। अवधान की इसी अस्थिर प्रकृति के कारण मनोवैज्ञानिकों ने इसे गत्यात्मक कहा है।

**६. अवधान में विभाजन का गुण पाया जाता है-** जब व्यक्ति एक ही परिस्थिति में अलग-अलग दो या दो से अधिक क्रियाएँ करना प्रारम्भ कर देता है तो वैसी परिस्थिति में व्यक्ति का अवधान उन सभी क्रियाओं पर होता है। अवधान या ध्यान की इस स्थिति को अवधान विभाजन की संज्ञा दी जाती है। अवधान विभाजन को परिभाषित करते हुए वुडवर्थ ने कहा है- 'दो अलग-अलग क्रियाओं पर एक साथ ध्यान केन्द्रित करने की प्रक्रिया को अवधान विभाजन (Division of Attention) कहा जाता है। जब व्यक्ति किताब पढ़ रहा होता है, साथ ही वह मनोरंजन के लिए संगीत भी सुनने की कोशिश करता है, तब उसका ध्यान किताब और संगीत दोनों में विभक्त होता है। इसी प्रक्रिया को अवधान विभाजन की प्रक्रिया कहा जाता है।

---

### ३.९ अवधान : प्रकार

---

अवधान तथा इसकी विभिन्न विशेषताओं को समझ लेने के पश्चात् इसके प्रकारों को भी समझना आवश्यक है। स्थूल रूप से अवधान के पांच प्रकार निर्दिष्ट किये गए हैं -

१. ऐच्छिक अवधान (Voluntary Attention)
२. अनैच्छिक अवधान (Involuntary Attention)
३. आदतजन्य (Habitual Attention)
४. विचारात्मक अवधान (Thoughtful Attention)
५. विश्लेषणात्मक अवधान (Analytic Attention)।

**१. ऐच्छिक अवधान-** ऐच्छिक अवधान वह ध्यान है, जो व्यक्ति अपनी इच्छापूर्वक किसी वस्तु पर लगाता है। अर्थात् उसके प्रेरक तत्त्व व्यक्ति में ही रहते हैं। उदाहरण के लिए कोई लड़की संगीत सीखना चाहती है। वह संगीत की कक्षा में प्रवेश करती है और लगनपूर्वक सीखती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वयं अपनी इच्छा से ही सीखने में ध्यान लगाती है तो उसका यह ध्यान ऐच्छिक अवधान है। विश्लेषण करने से पता चलता है कि ऐच्छिक ध्यान में तीन बातें काम कर रही हैं- इच्छा अथवा रुचि, ध्येय तथा सामाजिक अभियोजन।

(i) **इच्छा**—ऐच्छिक अवधान व्यक्ति की इच्छा अथवा रुचि पर निर्भर रहता है। जैसे—उपरोक्त उदाहरण में संगीत लड़की की रुचि का विषय है। बहुत बार सिनेमा देखने के शौकीन व्यक्ति जब बाजार से होकर गुजरते हैं तो उनका ध्यान सहज ही पोस्टर पर चला जाता है।

(ii) **उद्देश्य**—ऐच्छिक अवधान में उद्देश्य अर्थात् ध्येय अवश्य निहित रहता है। जब एक निश्चित लक्ष्य अथवा ध्येय होता है तो उसकी प्राप्ति में व्यक्ति का ध्यान स्वतः ही लग जाता है। उपरोक्त उदाहरण में लड़की का मुख्य उद्देश्य अच्छी गायिका बनना या कुछ और भी हो सकता है।

(iii) **सामाजिक समायोजन**—व्यक्ति सामाजिक प्राणी है, इसलिए वह समाज के साथ अपना समायोजन बनाये रखना चाहता है। इसके लिए उसे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा समाज से संबंधित अन्य बातों पर ध्यान देना होता है। उपरोक्त उदाहरण में कन्या का उद्देश्य समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना भी हो सकता है।

**२. अनैच्छिक अवधान** - जब बिना इच्छा के व्यक्ति का ध्यान किसी विशेष वस्तु या उद्दीपक की ओर चला जाता है तो वह अनैच्छिक अवधान होता है। उदाहरण के लिए कोई विद्यार्थी परीक्षा के समय अध्ययन कर रहा है। अचानक गाने की आवाज आए और उसका ध्यान न चाहते हुए भी उधर चला जाए तो वह अनैच्छिक अवधान कहलाता है। इस प्रकार के अवधान में इच्छाशक्ति की कोई भूमिका नहीं होती। अवधान का आधार उद्दीपक की बाह्य विशेषताएँ होती हैं। उदाहरण के लिए यदि हम एक कमरे में एकाग्रचित्त होकर किताब पढ़ रहे हैं। बगल में अचानक बन्दूक छूटने की कोई जोरदार आवाज आए तो हमारा ध्यान उसी ओर तुरन्त चला जाता है। यह अनैच्छिक अवधान है।

**३. आदतजन्य अवधान** - आदतजन्य अवधान का आधार व्यक्ति की दैनिक आदतें होती हैं। आदतजन्य अवधान न तो इच्छाशक्ति से प्रभावित होता है और न ही उसे बाह्य उद्दीपक एवं उसकी विशेषताएँ प्रभावित कर पाती हैं। यह तो केवल व्यक्तिगत गुणों तथा आदतों पर आधारित होता है। जैसे—सुबह उठते ही चाय पीने वालों का ध्यान चाय की ओर, पान खाने वालों का ध्यान पान की दुकान की ओर, मोची का ध्यान लोगों के जूते की ओर स्वाभाविक रूप से चला जाता है। मनोविज्ञान के प्रोफेसर का अवधान मनोविज्ञान की पुस्तक पर, डॉक्टर का ध्यान दवा अथवा रोगी पर चला ही जाता है।

**४. विचारात्मक अवधान** - जब व्यक्ति का ध्यान उद्दीपक से संबंधित प्रतिमा या विचारों की ओर हो तो यह विचारात्मक अवधान होगा। जैसे—किसी सिद्धान्त को समझते समय या किसी परिचित व्यक्ति की समस्याओं पर विचार करते समय हमारा ध्यान एकाग्र होता है। उस एकाग्रता को विचारात्मक अवधान कहते हैं।

**५. विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक अवधान** - जब व्यक्ति किसी वस्तु या उद्दीपक पर विश्लेषण या संश्लेषण की दृष्टि से ध्यान देता है तो वह उसका विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक अवधान कहलाता है।

### ३.१० अवधान की दशाएँ

हम अनेक वस्तुओं को देखते हुए भी केवल एक ही ओर ध्यान देते हैं। इसका कारण यह है कि अवधान को केन्द्रित करने में अनेक दशाएँ सहायता देती हैं। हम इन दशाओं को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. बाह्य या वस्तुगतदशाएँ, २. आन्तरिक या व्यक्तिगत दशाएँ।

#### ३.१०.१ बाह्य या वस्तुगत दशाएँ

**१. अवधि**— हमें जिस वस्तु को देखने का जितना अधिक समय मिलता है, उस पर हमारा ध्यान उतना ही केन्द्रित होता है। इसीलिए अध्यापक पाठ की मुख्य-मुख्य बातों को श्यामपट (Black Board) पर लिखते हैं।

**२. गति**— मनोवैज्ञानिकों ने स्थिर वस्तु की बजाय चलती हुई वस्तुओं की ओर हमारा ध्यान जल्दी आकर्षित होता है, ऐसा माना है। जैसा कि हम व्यवहार जगत् में देखते हैं कोई व्यक्ति बैठा हुआ है या खड़ा है तो हमारा ध्यान उतना आकर्षित नहीं होगा, जितना कि भागते हुए व्यक्ति को देखकर होता है।

**३. स्थिति** - हम प्रतिदिन मार्ग पर चलते हुए बहुत से मकानों के पास से गुजरते हैं, पर हमारा ध्यान उनकी ओर

आकर्षित नहीं होता है। वहीं यदि किसी दिन हम उनमें से किसी मकान को गिरी हुई दशा या स्थिति में पाते हैं तो हमारा ध्यान स्वयं ही उसकी ओर चला जाता है।

**४. नवीनता** - हमारा ध्यान नवीन, विचित्र या अपरिचित वस्तु की ओर अधिक आकर्षित होता है। इसीलिए जब उद्दीपक नया होता है तब उस पर हम लोगों का ध्यान पुरानी वस्तु या उद्दीपक की अपेक्षा जल्दी चला जाता है। उदाहरण स्वरूप हम देख सकते हैं कि जब कोई छात्र जो प्रतिदिन पैंट तथा कमीज पहनकर आता था, अगर किसी दिन धोती-कुर्ता पहनकर कक्षा में आता है तो उस पर सभी छात्रों का ध्यान अपने आप चला जाता है। वर्दी पहने हुए सिपाही को नदी में नहाते हुए देख हमारे नेत्र उस पर जम जाते हैं।

**५. विषमता** - यदि हम सुन्दर व्यक्तियों के परिवार में किसी कुरूप व्यक्ति को देखते हैं तो उसकी विषमता के कारण हमारा ध्यान उसकी ओर अवश्य जाता है।

**६. तीव्रता** - जो वस्तु जितनी अधिक उत्तेजना उत्पन्न करती है, उतना ही अधिक हमारा ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। अंधेरी रात में यदि हम आसमान की ओर नजर करते हैं तो सबसे पहले हमारा ध्यान उन तारों पर जाता है जो अधिक चमकीले होते हैं अर्थात् जिनमें तीव्रता अधिक होती है। घुमिल तारों पर हमारा ध्यान नहीं जाता है।

**७. स्वरूप** - हमारा ध्यान अच्छे स्वरूप की वस्तुओं की ओर अपने आप जाता है। जो वस्तु सुडौल, सुन्दर और अच्छी बनावट की होती है, उसे देखने की हमारी इच्छा स्वयं हो जाती है।

**८. आकार** - हमारा ध्यान छोटी वस्तुओं की अपेक्षा बड़े आकार की वस्तुओं की ओर जल्दी जाता है। चौराहों पर लगाए गये बड़े-बड़े पोस्टर एवं विज्ञापनों की ओर हमारा ध्यान शीघ्र आकर्षित होता है।

**९. परिवर्तन**- विद्यालय में शोर होना साधारण बात है। पर यदि उसके किसी भाग में लगातार शोर होने के कारण वातावरण में परिवर्तन हो जाए तो हमारा ध्यान शोर की ओर अवश्य जाता है।

**१०. पुनरावृत्ति** - जो बात बार-बार दोहराई जाती है, उसकी ओर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक होता है। छात्रों के ध्यान को केन्द्रित रखने के लिए शिक्षक मुख्य-मुख्य बातों को दोहराता जाता है।

**११. रहस्य** - अवधान का केन्द्रीयकरण किसी बात के रहस्य पर भी आधारित है। यदि दो मनुष्य सामान्य रूप से कोई बातचीत करते हैं तो हमारा ध्यान उनकी ओर नहीं जाता है। पर यदि वे कोई गुप्त या रहस्यपूर्ण बात करने लगते हैं तो हम कान लगाकर उनकी बात सुनने का प्रयास करते हैं।

**१२. उद्दीपक का विरोध** - जब कोई उद्दीपक अपने विरोधी उद्दीपक के साथ उपस्थित होता है, तो उस पर हमारा ध्यान उसी उद्दीपक को सामान्य अवस्था में उत्पन्न होने की अपेक्षा जल्दी चला जाता है। उदाहरणार्थ यदि पति-पत्नी का अथवा भाई-बहिन का ऐसा जोड़ा हो, जिसमें एक काफी गोरा और सुन्दर हो और एक अधिक काला हो तो सामान्य जोड़ों की अपेक्षा इस प्रकार के जोड़ों पर हमारा ध्यान अधिक जाएगा।

**१३. उद्दीपक का रंग** - रंगीन उद्दीपक या उत्तेजनाओं को देखने की अभिरुचि व्यक्ति में रंगहीन उद्दीपकों की अपेक्षा अधिक होती है। फलस्वरूप रंगीन उद्दीपकों पर व्यक्ति का ध्यान रंगहीन उद्दीपकों की अपेक्षा जल्दी चला जाता है। किसी दुकान का नाम उजले पृष्ठभूमि पर यदि काले अक्षरों से लिखा हो और बगल में दूसरी दुकान का नाम उजली पृष्ठभूमि पर लाल रंग से लिखा हो तो हमारा ध्यान सबसे पहले लाल रंग से लिखे दुकान की नाम की ओर जाता है। स्पष्ट है कि रंगीन उद्दीपकों पर रंगहीन उद्दीपकों की अपेक्षा ध्यान जल्दी से चला जाता है।

### ३.१० अवधान को केन्द्रित करने की आन्तरिक दशाएँ

जिस प्रकार अवधान केन्द्रित होने के बाह्य कारण निर्दिष्ट किये गये, उसी प्रकार व्यक्ति के कुछ व्यक्तिगत या आन्तरिक कारण भी होते हैं, जिसके कारण व्यक्ति का ध्यान कुछ विषयों या वस्तुओं पर टिकता है। वे कारण निम्नांकित हैं-

**१. रुचि** - अवधान का सबसे महत्वपूर्ण कारण है-'रुचि'। हम उन्हीं वस्तुओं की ओर ध्यान देते हैं, जिनमें हमें रुचि होती है। जिन वस्तुओं में हमारी रुचि नहीं होती उन वस्तुओं की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता।

**२. ज्ञान** – जिस व्यक्ति को जिस विषय का ज्ञान होता है, उस पर ध्यान सरलता से केन्द्रित होता है। जैसे—कलाकार का ध्यान कला की वस्तुओं पर जल्दी केन्द्रित होता है।

**३. आदत** – प्रत्येक व्यक्ति की कुछ-न-कुछ विशेष आदत होती है। किसी को फुटबाल खेलने की, किसी को पान खाने की तो किसी को खेलने की। इन आदतों के अनुसार व्यक्ति किसी विशेष क्रिया या वस्तु पर ध्यान देता हुआ पाया जाता है। जिस व्यक्ति को चार बजे टेनिस खेलने जाने की आदत है, उसका ध्यान तीन बजे से ही उस पर केन्द्रित हो जाता है।

**४. जिज्ञासा**— जिज्ञासा भी अवधान का एक महत्वपूर्ण निर्धारक है। व्यक्ति की जिस विषय में जिज्ञासा होती है, उसमें वह ध्यान अवश्य देता है। छोटे बच्चों का ध्यान नये-नये खिलौने की ओर जल्दी से चला जाता है।

**५. लक्ष्य** – व्यक्ति अपने जीवन में जिस कार्य को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है या जो लक्ष्य बनाता है, उसकी गति-प्रगति की ओर उसका ध्यान स्वतः ही टिक जाता है।

**६. मनोवृत्ति** – अवधान का एक कारण व्यक्ति की मनोवृत्ति है। जैसे—किसी की मनोवृत्ति दूसरों में दोष निकालना है, तो उस व्यक्ति का ध्यान स्वतः ही दूसरों के दोषों पर ही केन्द्रित होगा।

**७. वंशानुक्रम** – अवधान के केन्द्रीकरण का एक आधार व्यक्ति को वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों पर भी निर्भर है। शिकारी परिवार के व्यक्ति का ध्यान शिकार के जानवरों की ओर एवं धार्मिक परिवार के व्यक्ति का ध्यान मन्दिरों की ओर स्वाभाविक है।

**८. आवश्यकता** – जो वस्तु व्यक्ति की आवश्यकता को पूर्ण करती है, उसकी ओर उसका ध्यान जाना स्वाभाविक है। यदि कोई व्यक्ति सब्जी खरीदने के लिए बाहर निकलता है तो उसका ध्यान अन्यत्र न जाकर सब्जी मण्डी या सब्जी बेचने वालों की ओर जाना स्वाभाविक है क्योंकि उस समय सब्जी उसकी आवश्यकता है।

**९. मूलवृत्तियाँ** – भूख, प्यास, नींद, काम आदि मनुष्य की मूल वृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ भी ध्यान के केन्द्रीकरण का मुख्य कारण हैं। यही कारण है कि विज्ञापनों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए काम-प्रवृत्ति का सहारा लिया जाता है। इसीलिए विज्ञापनों में सुन्दर युवतियों के चित्र होते हैं।

**१०. पूर्व अनुभव** – यदि व्यक्ति को किसी कार्य को करने का पूर्व-अनुभव होता है, तो उस पर उसका ध्यान सरलता से केन्द्रित हो जाता है।

**११. मस्तिष्क का विचार**— रायबर्न के अनुसार हमारे मस्तिष्क में जिस समय जो विचार सर्वप्रथम आता है, उस समय उसी से संबंधित बातों की ओर ध्यान देते हैं। यदि हमारे मस्तिष्क में अपने किसी रोग का विचार है तो समाचार-पत्र पढ़ते समय हमारा ध्यान औषधियों के विज्ञापनों की ओर अवश्य जाता है।

**१२. प्रत्याशा या उम्मीद** – व्यक्ति का ध्यान किसी वस्तु या उद्दीपक पर उसके प्रत्याशा या खास उम्मीद के कारण भी चला जाता है। उदाहरण के लिए एक पतिव्रता धर्मपत्नी को उसके पति ८ बजे तक घर वापस आने को कहकर चले जाते हैं परन्तु ९ बजे तक नहीं आते हैं। उसी समय यदि कोई गेट खोलता है तो गृहिणी का ध्यान तत्काल वहां चला जायेगा, चाहे घर में रेड़ियो ऊँची आवाज में चल रहा हो। इसका कारण पति के आने की उम्मीद ही है।

**१३. अर्थ**— कुछ उद्दीपक ऐसे होते हैं, जिनका अर्थ व्यक्ति समझता है तथा कुछ उद्दीपक ऐसे होते हैं, जिनका अर्थ व्यक्ति नहीं समझता है। जिस उद्दीपक का अर्थ व्यक्ति समझता है, उस पर उसका ध्यान तेजी से चला जाता है। प्रायः रेलगाड़ी के डिब्बों पर हिन्दी में, अंग्रेजी में, बंगला में लिखा होता है। जो व्यक्ति हिन्दी समझता है उसका ध्यान हिन्दी में लिखे तथ्यों पर अन्य भाषाओं में लिखे तथ्यों की अपेक्षा जल्दी हो जाता है।

---

### ३.११ अवधान : महत्त्व

---

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अवधान का अत्यन्त महत्त्व है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि अवधान ध्यान की पूर्ववस्था है अतः इसका उपयोग केवल उन लोगों के लिए है, जो ध्यान-साधना करना चाहते हैं। परन्तु यह एक मिथ्या अवधारणा है। प्रत्येक व्यक्ति जो अपने जीवन में कुछ लक्ष्य बनाते हैं और उस लक्ष्य को प्राप्त कर सफल होना चाहते हैं, उनके लिए अवधान का विकास अत्यन्त जरूरी है।



आचार्य तुलसी ने एकाग्रता के महत्त्व को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

१. एकाग्रता की शक्ति उपलब्ध होने पर ही इच्छा-शक्ति को संकल्प-शक्ति में बदला जा सकता है।
२. मन को एक केन्द्र पर केन्द्रित करने पर जो तोष मिलता है, वह करोड़ों उपलब्धियों में भी नहीं मिल सकता है।
३. एकाग्रता से ग्रहण की हुई बातें भूली नहीं जातीं। उनके संस्कार अमिट होते हैं।

४. एकाग्रता से शक्ति पैदा होती है। उस शक्ति के सहारे मनुष्य बड़े से बड़ा वैज्ञानिक, डॉक्टर और इंजीनियर भी बन सकता है और महान् आत्मज्ञानी भी बन सकता है।

इनके अलावा हम अवधान के महत्त्व को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से अच्छी तरह से समझ सकते हैं—

**१. कार्य में दक्षता** – एक प्रवाह में जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहों में नहीं हो सकती। सूर्य की बिखरी हुई रश्मियों में वह शक्ति नहीं होती, जो केन्द्रित किरणों में होती है। सूर्य की केन्द्रित किरणें कागज को जला डालती हैं। ठीक इसी प्रकार बिखरी हुई मन की शक्ति कार्य में वह दक्षता नहीं लाती तो केन्द्रित की हुई शक्ति लाती है। जब व्यक्ति दत्तचित्त, एकाग्र होकर कार्य करता है, तब उसकी सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है और कार्य में कुशलता आती है। कार्य करने की शैली अच्छी होती है।

**२. कार्य क्षमता का विकास**— कार्य दक्षता का अर्थ कार्य करने की कुशलता का बढ़ना है। परन्तु कार्यक्षमता का विकास का अर्थ है—किसी कार्य को करने की मात्रा का बढ़ना। जैसे—मान लीजिए एक विद्यार्थी एक दिन में पाँच प्रश्नों के उत्तर याद करता है तो अवधान के बढ़ने से वह सात प्रश्नों को याद कर लेगा। इसी को कार्यक्षमता का विकास कहा जाता है। अर्थात् अधिक काम करने की शक्ति का विकास होना।

**३. बुद्धि का विकास**— अवधान बुद्धि को विकसित करने में भी सहयोग करता है। अध्यात्माचार्यों के अनुसार सूक्ष्म बुद्धि वाले व्यक्ति का सबसे बड़ा लक्षण है—निश्चित विषय पर इच्छानुसार ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता का विकास। जब व्यक्ति किसी विषय को ध्यान से सुनता है, जब मूल को छोड़कर अन्य विषय मस्तिष्क में नहीं रहते तब उस अवस्था में व्यक्ति की बौद्धिक शक्ति बढ़ जाती है। वह अपने विषयों को ज्यादा आसानी एवं लम्बे समय तक के लिए ग्रहण कर सकता है, जिसके कारण हम कहते हैं—उसकी बुद्धि तेज है। तात्पर्य यही है कि अवधान से बौद्धिकता का भी विकास होता है।

**४. स्मरण शक्ति का विकास**— विभिन्न प्रयोगों एवं अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि बुद्धि और स्मृति दो पृथक् चीजें हैं। जिसकी बुद्धि तेज होती है, जरूरी नहीं कि उसकी स्मृति भी तीव्र हो। बहुत से बुद्धिमान व्यक्ति बड़े-बड़े प्रश्नों के उत्तर मिनटों में दे देते हैं परन्तु घर जाते वक्त छोटी-सी सामग्री जो घर के लिए ले जानी थी, भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्मृति और बुद्धि मस्तिष्क की दो भिन्न-भिन्न क्षमताएँ हैं। इन दोनों का ही विकास अवधान से होता है।

**५. सफलता का प्रथम सोपान** – जीवन में सफलता की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है—मन की चंचलता। जब-जब मन चंचल होता है तब-तब तनाव पैदा होता है। तनाव की अवस्था में व्यक्ति किसी भी कार्य को दक्षता से या सही ढंग से नहीं कर पाता। कार्य को सही ढंग से न कर पाने पर भी सफलता प्राप्त होगी, सोचना भी हास्यास्पद है। अतः यह निश्चित है कि सफलता का प्रथम सोपान है—एकाग्रता। जैसे-जैसे व्यक्ति अवधान को बढ़ाता है, वैसे-वैसे वह जीवन के विभिन्न कार्यों में सफलता को प्राप्त करता चला जाता है।

**६. गुप्त शक्तियों की अभिव्यक्ति** – प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अनन्त शक्ति एवं क्षमताएँ हैं। परन्तु स्वयं की चंचलता के कारण वह अभिव्यक्त नहीं हो पाती। सोयी रह जाती है। अवधान की अवस्था में चंचलता समाप्त हो जाती है। मन की सारी शक्ति दूसरे पदार्थों से हटकर एक ही विषय पर केन्द्रित हो जाती है। जब चैतन्य का व्यापार एक ही दिशा में होता है तब अनन्त क्षमताएँ एवं शक्तियाँ अभिव्यक्त होने लगती हैं।

### ३.१२ अवधान : विघ्न एवं प्रेक्षाध्यान

अवधान का महत्त्व निःसंदेह किसी से छिपा हुआ नहीं है। आज तक जितने भी बड़े कार्य हुए हैं, उनके पीछे अवधान (एकाग्रता) का ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। विज्ञान के द्वारा अनेक चामत्कारिक आविष्कार हुए हैं, एक डॉक्टर बड़े-बड़े ऑपरेशन करता है, एक पॉयलट हजारों व्यक्तियों को लेकर हवाई जहाज से आकाश मार्ग में गमन करता है। क्या यह सब कार्य

बिना अवधान के संभव हैं? नहीं। एकाग्रता भंग होते ही अनेक व्यक्ति मौत के द्वार पहुँच जाते हैं। अवधान का महत्त्व प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। चाहे वह गायक हो, चाहे नेता, अभिनेता, व्यापारी, शिक्षक या विद्यार्थी हो, सभी को अपने-अपने क्षेत्र में सफल होने के लिए अवधान चाहिए। परन्तु बहुधा देखा जाता है कि जाने-अनजाने ऐच्छिक या अनैच्छिक रूप से बहुत बार अवधान में विघ्न आ जाते हैं। व्यक्ति न चाहते हुए अनवधान का शिकार हो जाता है। उसका ध्यान अपने कार्य से हटकर दूसरी ओर चला ही जाता है। विद्यार्थी परीक्षा के समय पुस्तक लेकर बैठता है। दूर से देखने पर लगता है वह अध्ययन कर रहा है परन्तु वह कहीं ओर ही खोया रहता है। वस्तुतः अवधान अर्थात् एकाग्रता भंग होने के कुछ कारण निर्दिष्ट किये गये हैं। एकाग्रता प्राप्ति के लिए उसके बाधक तत्त्वों को समझकर उनका निराकरण करना आवश्यक है। एकाग्रता के बाधक तत्त्व दो प्रकार के हैं— १. आन्तरिक विघ्न, २. बाह्य विघ्न।

**१. आन्तरिक विघ्न**—एकाग्रता को भंग करने वाले जो व्यक्तिगत कारक हैं, उन्हें अवधान के आन्तरिक विघ्न के रूप में जाना जाता है। आलस्य, श्रम के प्रति अरुचि, मन की चंचलता, चिन्ता, भय, थकावट, रुचियों की बहुलता और प्रेमाकुलता आदि अवधान के आन्तरिक विघ्न हैं, जो व्यक्ति को एकाग्र नहीं होने देते।

**२. बाह्य विघ्न**—कुछ विघ्न जो बाहरी वातावरण, व्यक्ति के परिवेश से संबंधित हैं, वे बाह्य विघ्न कहलाते हैं, जैसे— शोरगुल, मन्द प्रकाश, अनुचित क्षेत्र (स्थान) आदि। ये विघ्न भी व्यक्ति के अवधान में बाधा पहुँचाते हैं।

व्यक्ति जिस कार्य को कर रहा है, उसमें एकाग्रता बनी रहे, इसके लिए आवश्यक है इन दोनों प्रकार के विघ्नों का निराकरण हो।

आचार्य महाप्रज्ञ ने आन्तरिक विघ्न निवारण के लिए जीवन विज्ञान के अन्तर्गत कुछ प्रयोग निर्दिष्ट किये हैं। इन प्रयोगों को अपनाकर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत विघ्न के कारकों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति आन्तरिक विघ्नों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है, उसके लिए बाह्य विघ्न ज्यादा समस्या पैदा नहीं कर सकते। वे स्वतः ही निरस्त हो जाते हैं अथवा उनके होने पर भी व्यक्ति पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

**१. आकाश दर्शन** — आकाश दर्शन का अर्थ है—आकाश की ओर अपलक देखना। प्रारम्भ में अधिक समय न भी देखा जा सके तो धीरे-धीरे इस अभ्यास को बढ़ाने से मन की चंचलता कम होती है, एकाग्रता का विकास होता है।

**२. अनिमेष प्रेक्षा**— एकाग्रता के विकास के लिए प्रेक्षाध्यान में अनिमेष प्रेक्षा का प्रयोग करवाया जाता है। किसी एक बिन्दु पर, दीवार पर, नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित कर अपलक दृष्टि से देखना अनिमेष प्रेक्षा है। यदि अनिमेष प्रेक्षा प्रतिदिन की जाए तो एकाग्रता का विकास हो सकता है।

**३. श्वासप्रेक्षा**— अवधान विकास का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—श्वासप्रेक्षा। श्वास प्रेक्षा में व्यक्ति श्वास को देखता है। चित्त को नासाग्र पर केन्द्रित कर आते-जाते हुए प्रत्येक श्वास को देखना। इस प्रयोग से एकाग्रता का विकास होता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में मन को सूक्ष्म करने का अचूक उपाय है—श्वास का अभ्यास। इसके अलावा होंट का ऊपरीभाग या नाक का निचला भाग, जहाँ श्वास का स्पर्श होता है, वहाँ मन को केन्द्रित करना। उस स्पर्श बिन्दु पर मन को टिकाना, आते-जाते श्वास के स्पर्श का अनुभव करना। इससे श्वास लम्बा और सूक्ष्म होता है। श्वास जितना लम्बा और सूक्ष्म होगा, एकाग्रता उतनी ही बढ़ेगी।

**४. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा** — भगवान महावीर ने कहा “खणं जाणाहि पंडिअ” अर्थात् वर्तमान क्षण को जानो। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में—वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष युक्त चित्त का निर्माण करती है। राग-द्वेष युक्त चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। वर्तमान क्षण की प्रेक्षा करने वाला इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष अर्थात् चित्त की चंचलता से बच जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा निर्दिष्ट इन प्रयोगों के अलावा भी कुछ और प्रयोग हैं, जिन्हें अपनाकर व्यक्ति अपनी एकाग्रता को बढ़ा सकता है।

**५. परिचित अर्थ में परिवर्तन** — बहुत बार शब्द क्लिष्ट होते हैं या जिसे दिमाग में बैठाना है, उसकी संख्या लम्बी होती है तो किसी भी व्यक्ति या प्रायः विद्यार्थियों के लिए उसे याद करना या उस पर एकाग्र होना कठिन हो जाता है। कठिन एवं बड़ी

संख्या को याद करने के लिए व्यक्ति उनके स्थान पर उनसे परिचित शब्दों को बिटाएँ। मान लीजिए किसी को १४३४१११२९२९२१११५३० इतनी लम्बी संख्या याद करनी है तो इसके लिए विद्यार्थी इनसे परिचित शब्दों की कथा बनाए।

जैसे—**एक चोर** था। उसके **तीन** लड़के, **चार** लड़कियाँ, **एक** पत्नी और **एक** स्वयं। कुल मिलाकर **नौ** प्राणी थे। पालन-पोषण कठिन बन गया। उसने अपने **एक-दो** मित्रों के सामने समस्या रखी। अन्त में वह चोरी के लिए घर से **नौ-दो ग्यारह** हो गया। गाँव में गया और **एक** सेठ के घर में रात **एक** बजे घुसा, पर वह पकड़ा गया। **पंचों** ने फैसला किया और उस पर **तीस** रूपए जुर्माना किया।

इस कथा के सम्बन्ध में उपर्युक्त संख्या अल्प प्रयास से ग्रहण हो जाएगी, क्योंकि कहानी से व्यक्ति का मन एकाग्र हो जाता है। शब्दावली सरल लगने लगती है।

**६. उल्टी गिनती गिनना-** प्रायः बालक १, २, ३, ४, ५ इस क्रम में अंकों को याद करते हैं। यदि पढ़ने वाले किसी भी बालक को एक से सौ तक गिनती करने के लिए कहा जाए तो वह खेलते हुए भी उन संख्याओं को आसानी से सुना सकता है परन्तु किसी को १००, ९९, ९८, ९७ इस तरह उल्टी गिनती करने के लिए कहा जाए तो उसे कुछ सोच-सोचकर बोलना पड़ेगा। अतः स्पष्ट है कि उल्टी गिनती करने से भी अवधान शक्ति बढ़ती है।

**७. चित्र का निर्माण करना-** बहुत बार किसी कठिन विषय को याद करने के लिए विद्यार्थियों को अनेक बार उस विषय-वस्तु को रटना पड़ता है। रटना बहुत कठिन कार्य है। साथ ही केवल रटी हुई चीजें यदि वापस न दोहराई जाएँ तो हम भूल भी जल्दी जाते हैं। याद करने का आसान तरीका है—चित्र का निर्माण करना। जिस विषय-वस्तु को हमें याद करना है उसको यदि संकेत के रूप में चित्रित कर दिया जाए तो वह आसानी से बिना रटे भी जल्दी याद हो जाता है और उसकी विस्मृति भी नहीं होती क्योंकि चित्रित वस्तु हमारे मस्तिष्क में लम्बी एवं गहरी छाप छोड़ती है।

इस प्रकार उपरोक्त विविध प्रयोगों से व्यक्ति अपनी एकाग्रता को बढ़ा सकता है परन्तु यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एकाग्रता अच्छी है पर उसके लिए भी समय-सीमा है। यह एक साथ नहीं बढ़ सकती। धीरे-धीरे अभ्यास करते रहने से ही व्यक्ति एकाग्रता की चरम सीमा तक पहुँच सकता है।

---

## बोध-प्रश्न - ६

---

**निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—**

१. अवधान के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए अवधान के प्रकारों को स्पष्ट करें।
२. “अवधान की दशाएँ” इस विषय पर मनोवैज्ञानिकों के विचारों को प्रस्तुत करें।
३. हमारे जीवन में अवधान का क्या महत्त्व है? स्पष्ट करते हुए अवधान बढ़ाने के उपायों पर प्रकाश डालें।
४. अवधान के स्वरूप एवं विशेषताओं को समझाते हुए अवधान के विघ्न कौन-कौन से हैं? एवं प्रेक्षाध्यान द्वारा उन विघ्नों का निराकरण कैसे किया जा सकता है? स्पष्ट करें।

## इकाई-४ भाव, संवेग और अभिप्रेरण : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार

### इकाई की रूपरेखा

- ४.० उद्देश्य
- ४.१ प्रस्तावना
- ४.२ भाव एवं संवेग : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
  - ४.२.१ भाव : स्वरूप
  - ४.२.२ भाव : प्रकार
  - ४.२.३ संवेग : स्वरूप
  - ४.२.४ संवेग : प्रकार
- ४.३ संवेग : शारीरिक परिवर्तन
  - ४.३.१ बाह्य शारीरिक परिवर्तन
  - ४.३.२ आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन
- ४.४ भाव : आध्यात्मिक आधार
  - ४.४.१ भाव : स्वरूप
  - ४.४.२ भाव एवं संवेग में अन्तर
  - ४.४.३ भाव : उत्पत्ति प्रक्रिया
  - ४.४.४ संवेग : नियंत्रण पद्धति
- ४.५ अभिप्रेरण : मनोवैज्ञानिक आधार
  - ४.५.१ अभिप्रेरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
  - ४.५.२ अभिप्रेरण : विशेषताएँ
- ४.६ अभिप्रेरण : प्रकार
  - ४.६.१ जन्मजात अभिप्रेरक
  - ४.६.२ अर्जित अभिप्रेरक
- ४.७ संघर्ष : मनोवैज्ञानिक अवधारणा
  - ४.७.१ संघर्ष : उत्पत्ति की प्रक्रिया
  - ४.७.२ संघर्ष : प्रकार
  - ४.७.३ संघर्ष : मनोवैज्ञानिक समाधान
- ४.८ संघर्ष समाधान में जीवन विज्ञान की भूमिका

### ४.० उद्देश्य

“भाव और संवेग : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार” इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- \* भाव एवं संवेग के मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को समझ सकेंगे।
- \* भाव एवं संवेग में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे।
- \* भाव एवं संवेग के विविध प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।
- \* संवेगात्मक अवस्था में होने वाले विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों को जान सकेंगे।
- \* भाव उत्पत्ति की प्रक्रिया से परिचित हो सकेंगे।

- \* स्वयं के संवेगों को पहचानने के साथ उन पर किस प्रकार नियंत्रण किया जा सकता है, समझ सकेंगे।
- \* अभिप्रेरण क्या है? समझ सकेंगे।
- \* अभिप्रेरण के प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।
- \* संघर्ष कैसे उत्पन्न होता है? जान सकेंगे।
- \* संघर्ष समाधान में जीवन विज्ञान की भूमिका से परिचित हो सकेंगे।

## ४.१ प्रस्तावना

प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है। इस संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जो रोगी होने की चाह रखता हो। स्वस्थ जीवन सबको प्यारा है। क्योंकि धन-दौलत, रुपया-पैसा, कुटुम्ब-कबीला सब कुछ होने पर भी स्वास्थ्य के अभाव में व्यक्ति सुखी जीवन नहीं जी सकता। इसीलिए स्वास्थ्य की चर्चा प्राचीन काल से चली आ रही है। तीर्थकर स्तुति में कहा गया— “आरोग्य बोधि लाभं” भगवन् मुझे आरोग्य और बोधि (ज्ञान) प्रदान करें। स्वस्थ कैसे रहा जाए? यह एक चिन्तनीय प्रश्न है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में स्वास्थ्य का पहला सूत्र है—संवेगों का संतुलन। जो व्यक्ति अपने संवेगों को संतुलित करना नहीं जानता, अपने आवेश, आवेग पर नियंत्रण करना नहीं जानता, वह स्वस्थ नहीं रह सकता। आयुर्वेद में भी संवेग एवं रोग के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मिलती है। वहाँ पर भी अनेक रोगों का कारण संवेगों को बताया गया है।

मनोविज्ञान में भी संवेगों के कारण उत्पन्न होने वाली बीमारियों की विस्तृत जानकारी मिलती है। मनोविज्ञान में संवेग से उत्पन्न होने वाली शारीरिक बीमारियों को ‘मनोकायिक बीमारी’ कहा गया है। इस प्रकार सभी ने संवेग को बीमारियों के कारण रूप में स्वीकार किया है। अतः इतना तो स्पष्ट है कि बीमारियों से दूर रहने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—संवेगों का संतुलन। संवेगों को नियंत्रित या संतुलित करने के लिए आवश्यक है संवेग क्या है? यह कैसे उत्पन्न होते हैं? आदि बातों को समझना। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत इकाई में भाव एवं संवेग की विस्तृत जानकारी मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में दी जा रही है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद भाव, भाव और संवेग में अन्तर, संवेग नियंत्रण की प्रक्रिया आदि बातों की जानकारी विद्यार्थियों को सरलता से हो सकेगी। इसके अलावा अभिप्रेरण क्या है? संघर्ष क्या है? तथा संघर्ष का समाधान जीवन विज्ञान के द्वारा कैसे संभव है? आदि बातों की जानकारी भी प्रस्तुत इकाई में दी जाएगी।

## ४.२ भाव एवं संवेग : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

### ४.२.१ भाव : स्वरूप

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भाव एक मानसिक प्रक्रिया है, जिसका विश्लेषण सरल नहीं है। इस सन्दर्भ में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जब तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है तब तक सुखद भाव उत्पन्न होते हैं और जब आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पहुँचती है तब दुःख का भाव अनुभव के अन्तर्गत आता है।

मनोवैज्ञानिक वाट्सन् के मतानुसार—“जीवन के भावात्मक अथवा संवेगात्मक पहलू स्वयं जीवन के मूल्य अथवा महत्त्व के निकट है।” वाट्सन् के इन शब्दों का अर्थ है भाव से युक्त जीवन ही मूल्यवान है अन्यथा जीवन का कोई महत्त्व नहीं है। भाव रहित मानव उस मशीन के समान होगा जो प्रतिदिन कार्य करती है पर कोई भाव अभिव्यक्त नहीं करती।

मनोवैज्ञानिकों ने मानव मन को तीन भागों में विभक्त किया है—

- (१) ज्ञानात्मक, (२) भावात्मक, (३) क्रियात्मक।

भाव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भावात्मक अवस्था से है, जिसमें उत्तेजक की उपस्थिति से प्राणी में सुखद तथा दुःखद भाव उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः भावोत्पत्ति का मूल कारण संवेदना है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हमें बाह्य अथवा आन्तरिक उत्तेजकों से उत्तेजना प्राप्त होती है। इन उत्तेजनाओं से हमें संवेदन होता है। यह संवेदन भावों की उत्पत्ति में निमित्त बनता है। मनोवैज्ञानिक ने भावों को विश्लेषित करते हुए कुछ विशेषताओं का निर्देश किया है—



## भाव की विशेषताएँ

- \* भाव मन की सरल प्रक्रिया है।
- \* भाव क्षणिक एवं चंचल होते हैं। एक के बाद दूसरे भाव निरन्तर आते-जाते रहते हैं।
- \* एक समय में एक ही प्रकार का भाव अनुभव किया जाता है।
- \* भाव का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर से होता है, किसी अंग विशेष से नहीं।
- \* भाव संवेदना के पश्चात् उत्पन्न होते हैं।
- \* भाव आत्मगत होते हैं अतः भाव का अध्ययन मात्र अन्तर्दर्शन से ही सम्भव है।

### ४.२.२ भाव : प्रकार

भाव के भेद को लेकर मनोवैज्ञानिकों में परस्पर में एक मत नहीं है। अधिकांश विद्वान् इस तथ्य में विश्वास रखते हैं कि भाव दो ही प्रकार के होते हैं—सुखद तथा दुःखद भाव। परन्तु वुंट भावों को तीन भागों में विभक्त करता है। उसके अनुसार भाव निम्न तीन प्रकार के हैं— १. सुखद तथा दुःखद भाव, २. उद्दीप्त तथा शान्त भाव, ३. विशेष तथा विराम भाव।

वुंट के अनुसार भाव मात्र सुखद तथा दुःखद अनुभूति के साथ सम्बन्धित नहीं है। अपितु स्वतन्त्र रूप से अन्य दो पक्ष भी पाये जाते हैं।

इसके अलावा कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि भाव मिश्रित भी हो सकते हैं। अर्थात् सुखद एवं दुःखद दोनों भावों का एक ही समय में अनुभव हो सकता है तो कुछ मनोवैज्ञानिक इस सिद्धान्त के पक्ष में नहीं हैं। इनके अनुसार भाव अत्यन्त क्षणिक और चंचल है, जिसके कारण दो भावों को एक समय में अनुभव करना असंभव है। एक क्षण में एक ही भाव की अनुभूति होती है।

### ४.२.३ संवेग : स्वरूप

संवेग के संदर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने काफी चर्चा की है। यद्यपि इसकी परिभाषा को लेकर सभी एकमत नहीं है, परन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि संवेग भावों के अत्यन्त निकट है। जब भाव अथवा अनुभूति की मात्रा बढ़ जाती है और शरीर में उद्दीप्त स्थिति का कारण बनती है, तब उसे संवेग कहते हैं। संवेग की अवस्था में मनुष्य का सारा शरीर उत्तेजित हो जाता है।

‘संवेग’ शब्द का अंग्रेजी रूपान्तरण ‘Emotion’ है, जो लैटिन शब्द ‘Emovere’ से बना है और जिसका अर्थ उत्तेजित करना होता है। इस शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संवेग व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था का दूसरा नाम है। इसी अर्थ में गेल्डार्ड ने कहा है—“संवेग क्रियाओं का उत्तेजक है।” लेकिन संवेग में सिर्फ उत्तेजित अवस्था ही नहीं होती है बल्कि कुछ और प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं।

\* बेरोन, बर्न तथा कैन्टोविज के अनुसार, “संवेग से तात्पर्य एक ऐसे आत्मनिष्ठ भाव की अवस्था से होता है, जिसमें कुछ शारीरिक उत्तेजन पैदा होता है, जिसमें कुछ खास-खास व्यवहार होते हैं।”

\* वुडवर्थ के अनुसार, “प्रत्येक संवेग एक अनुभूति है और उसी समय एक क्रियात्मक रूप है।

\* जरसील्ड के अनुसार, “संवेग शब्द आवेश में आने, भड़क उठने तथा उत्तेजित होने की दिशा को सूचित करता है।

\* पी.टी. युंग के अनुसार, “संवेग सम्पूर्ण व्यक्ति के शरीर में तीव्र उपद्रव है, जिसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक होती है, इसके अन्तर्गत व्यवहार, चैतन्य, अनुभव तथा अन्तरावयव की क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।”

\* इंगलिश तथा इंगलिश के अनुसार, “संवेग एक जटिल भाव की अवस्था होती है, जिसमें कुछ खास-खास शारीरिक एवं ग्रन्थीय क्रियाएँ होती हैं।”

इस प्रकार विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिभाषाओं के अनुसार संवेग एक जटिल अवस्था होती है। इसमें बहुत तरह के शारीरिक परिवर्तन, भाव आदि सम्मिलित होते हैं। इसके साथ ही प्रत्येक संवेग में कुछ भीतरी तथा आंगिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। संवेग की अवस्था में न केवल भीतरी अपितु बाहरी अंगों, जैसे—हाथ, पैर, आँख, चेहरे आदि में भी कुछ परिवर्तन होते हैं।

## संवेग की विशेषताएँ

मनोवैज्ञानिकों ने संवेग को सही ढंग से समझने के लिए उसकी कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है। इन विशेषताओं के सहारे संवेग को छिपा लेने पर भी लक्षित व्यक्ति संवेग से युक्त है या नहीं, पता लगाया जा सकता है। बहुत बार व्यक्ति संवेगों से युक्त होने पर भी संवेग को अभिव्यक्त नहीं करता, छिपा लेता है। जैसे—बहुत से व्यक्ति अन्दर से क्रोधित या भयभीत होने पर भी मुखकृति से पता नहीं लगने देते। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए मनोवैज्ञानिकों ने संवेग की निम्न विशेषताएँ प्रस्तुत की हैं—

**१. संवेग विकीर्ण होता है** – विकीर्णता का तात्पर्य है—परिवर्तन, फैलाव। जब संवेग आता है तो शरीर के किसी एक भाग में नहीं अपितु पूरे शरीर में एक तरह का तनाव फैल जाता है। यहाँ तक की एक ही संवेग में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में तनाव का प्रसार अलग-अलग होता है, जैसे—कोई व्यक्ति क्रोधित होने पर काफी उत्तेजित हो जाता है, उसके होंट, पैर, हाथ आदि काँपने लगते हैं। जबकि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो क्रोध की अवस्था में सिर्फ आवाज ऊँचा करके बोलते हैं और उनमें दूसरे तरह का शारीरिक परिवर्तन देखने को मिलता है।

**२. तीव्र उपद्रव** – संवेग उत्पन्न होते ही शरीर में तीव्र उपद्रव उत्पन्न होते हैं, जिनके परिणामस्वरूप प्राणी कठिन से कठिन कार्य करने में अपने को शक्ति सम्पन्न मानता है। बहुत बार देखा जाता है किसी के घर में अकस्मात आग लग जाए तो घर के अन्दर बैठा हुआ बूढ़ा व्यक्ति जो चलने-फिरने या हिलने-डुलने में अक्षम है, वह भी अपने बचाव की क्रिया करने लग जाता है।

**३. संवेग सतत होता है** – जब भी कोई संवेग उत्पन्न होता है, उसमें निरन्तरता का गुण होता है। उद्दीपक के हट जाने के बाद भी कुछ देर तक संवेग बना रहता है। जैसे—शेर सामने आ जाए तो भयभीत व्यक्ति शेर के चले जाने के पश्चात् भी काफी देर तक भयभीत बना रहता है। परीक्षा परिणाम घोषित हो और कोई विद्यार्थी उसमें प्रथम अंक प्राप्त करे तो नम्बर सुनने के काफी देर पश्चात् भी उसमें खुशी का संवेग बना रहता है।

**४. संवेग संचयी होता है** – जब संवेग उत्पन्न होता है तो थोड़ी देर के लिए उत्तरोत्तर अपने आप बढ़ते ही चला जाता है, क्योंकि संवेग व्यक्ति में एक खास प्रकार की मानसिक तत्परता उत्पन्न कर देता है, जिससे व्यक्ति उसी दिशा में प्रतिक्रिया और भी अधिक करना चाहता है।

**५. संवेग का स्वरूप अभिप्रेरणात्मक होता है** – जब व्यक्ति में तीव्र संवेग उत्पन्न होता है तो उसका व्यवहार किसी खास लक्ष्य की ओर तेजी से अग्रसित होता है। जैसे—भयभीत होने पर वह उस उद्दीपक से दूर भाग जायेगा या स्वयं को कहीं ऐसी जगह छिपा लेगा कि उद्दीपक उसे दिखलाई न पड़े। यदि कोई प्रसन्नता की बात है तो वह उन लोगों की ओर जाएगा, जिन्हें वह अपनी बात सुना सकता है।

**६. उद्दीपक की आवश्यकता** – संवेगात्मक अवस्था के लिए उद्दीपक का होना अत्यन्त आवश्यक है। उद्दीपक आन्तरिक अथवा बाह्य कैसा भी हो, परन्तु उद्दीपक होना चाहिए।

### ४.२.४ संवेग : प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने संवेगों को कई भागों में विभक्त किया है। यदि उनके द्वारा किये गये सभी प्रकार के संवेगों की व्याख्या अलग-अलग की जाए तो मात्र भ्रान्ति ही उत्पन्न होगी। अतः उन सभी प्रकारों का अलग-अलग वर्णन न करके नीचे सिर्फ उन संवेगों का वर्णन किया जा रहा है, जिन्हें प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। मनोवैज्ञानिक लिण्डजे, हाल तथा थम्पसन ने संवेग को निम्नांकित सात भागों में वर्गीकृत किया है—

**१. प्रेम**— प्रेम एक सकारात्मक संवेग है। जब व्यक्ति में किसी दूसरे व्यक्ति, पशु, स्थान के प्रति पसंदगी तथा आकर्षण विकसित होता है तब इस संवेगात्मक स्थिति को प्रेम की संज्ञा दी जाती है। इस संवेग में व्यक्ति दोस्ताना, सहानुभूति तथा मदद करने की प्रवृत्ति दिखलाता है। प्रेम दो प्रकार का होता है—कामुक प्रेम, अकामुक प्रेम। एक बच्चे का दूसरे बच्चे के प्रति प्रेम, माता-पिता का अपने बच्चे के प्रति, बच्चे का माता-पिता के प्रति, छात्र का शिक्षक के प्रति, मनुष्य का पशु के प्रति होने वाला प्रेम अकामुक प्रेम के अन्तर्गत आते हैं। पति-पत्नी तथा प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम कामुक प्रेम के उदाहरण हैं।

**२. ऊब**— मनोवैज्ञानिकों ने ऊब को भी एक संवेग माना है। यह एक दुःखद संवेग है। व्यक्ति के सामने जब कोई स्पष्ट

लक्ष्य नहीं होता है, न ही उसे अपनी उपलब्धि से कोई खुशी होती है, उसके हाथ में जो कार्य होता है, उसमें भी उसकी कोई विशेष रुचि नहीं होती है, तब ऐसी परिस्थिति में उसके भीतर एक सांवेगिक स्थिति उत्पन्न होती है, जिसे ऊब कहा जाता है। कई बार जब एक ही कार्य व्यक्ति बार-बार करता है, तब भी यह संवेग उत्पन्न हो जाता है। ऊब संवेग के उत्पन्न होने से व्यक्ति का कार्य में मन नहीं लगता। व्यक्ति काम में गलतियाँ ज्यादा करता है। अतः इस संवेग को नियंत्रित रखना जरूरी होता है।

**३. क्रोध-** क्रोध एक ऐसा संवेग है, जिससे प्रायः सभी व्यक्ति परेशान रहते हैं। जब-जब स्वयं के कार्य में कोई अवरोध पैदा होता है या इच्छा की संतुष्टि नहीं होती तो यह संवेग उभर आता है। प्रायः बच्चे स्वयं के क्रोध की अभिव्यक्ति सिर का बाल नोचकर, दूसरे की पुस्तक फाड़कर, दाँत काटकर, कपड़े फाड़कर, गाली देकर करते हैं। इस तरह की क्रियाओं को मनोवैज्ञानिकों ने बाह्य दण्डात्मक अनुक्रिया कहा है तो कभी-कभी बालक को क्रोध में स्वयं की पुस्तक अथवा कमीज फाड़ते हुए भी देखा गया है। यह आत्मदण्डात्मक अनुक्रिया है, जिसमें व्यक्ति स्वयं को दण्डित करता है। परन्तु वयस्क व्यक्ति प्रायः अपने क्रोध की अभिव्यक्ति निरोधी क्रियाओं द्वारा करते हैं। वयस्क जब किसी दूसरे से क्रोधित होते हैं तो उससे मिलना-जुलना कम कर देते हैं।

**४. ईर्ष्या-** ईर्ष्या एक जटिल संवेग है। इसमें डर तथा क्रोध दोनों संवेगों का मिश्रण होता है। जब व्यक्ति पहले से मिल रहे अनुराग में वास्तविक या काल्पनिक कमी महसूस करता है तो इससे उसमें ईर्ष्या का संवेग उत्पन्न हो जाता है। जिस व्यक्ति में ईर्ष्या का संवेग उत्पन्न होता है, वह अपने आपको हमेशा असुरक्षित महसूस करता है और हमेशा उसे इस बात का डर बना रहता है कि उसका स्थान दूसरा व्यक्ति लेने वाला है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि माता-पिता अपने छोटे पुत्र या पुत्री को अधिक प्यार देते हैं तो उनके बड़े पुत्र या पुत्री में छोटे भाई या बहिन के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हो जाता है।

**५. डर एवं दुश्चिंता-**मनोवैज्ञानिकों के अनुसार डर एक ऐसी संवेगात्मक स्थिति है, जिसमें किसी ऐसे खतरनाक वस्तु या घटना के प्रति व्यक्ति को प्रतिक्रिया करना होता है, जिससे वह आसानी से छुटकारा नहीं पा सकता। डर संवेग शैशवावस्था से ही पाया जाता है। प्रायः शिशु तीव्र आवाज, अंधेरा कमरा, जानवर से डर जाते हैं। बड़े बच्चों में इन उद्दीपकों के अलावा काल्पनिक बातों से भी डर पैदा होता हुआ दिखाई देता है। दुश्चिंता चिरकालिक डर का ही दूसरा नाम है। वस्तुतः दोनों एक-दूसरे से काफी संबंधित संवेग हैं। दुश्चिंता की उत्पत्ति मूलतः डर से ही होती है। जब डर चिरकालिक हो जाता है तब इससे व्यक्ति में दुश्चिंता उत्पन्न हो जाती है। दुश्चिंता में मानसिक स्थिति अस्पष्ट होती है और यह एक खास समय तक बढ़ती ही जाती है।

**६. आनन्द तथा उल्लास-**आनन्द एक तरह का धनात्मक संवेग है। जब आनन्द की तीव्रता कम होती है तब मनोवैज्ञानिकों ने इसे खुशी नाम दिया। परन्तु जब यह तीव्रता अधिक होती है तो उल्लास कहलाती है। आनन्द की अभिव्यक्ति व्यक्ति जोर से हँसकर, मुस्कुराकर करता है। इस संवेग में पूरे शरीर में एक तरह की विश्रान्ति का भाव उत्पन्न होता पाया जाता है।

**७. उदासी-**उदासी एक ऐसी सांवेगिक प्रतिक्रिया है, जो प्रिय वस्तु के खो जाने या प्रिय व्यक्ति के मर जाने से उत्पन्न होता है। अतः यह एक तरह का दुःखद संवेग है। जब उदासी के संवेग की तीव्रता अधिक हो जाती है तो इसे शोक या विषाद कहा जाता है। बच्चों में उदासी संवेग की अभिव्यक्ति स्पष्ट तथा अस्पष्ट—दोनों ढंग से होती है। जब बच्चा उदासी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है, तब वह रोना शुरू कर देता है। जब वह इसकी अस्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति देता है तब उसके भूख में कमी, नींद की कमी, खेलने में अरुचि, दूसरों से न बोलना आदि क्रियाएँ करता है। वयस्क व्यक्ति प्रायः अपनी उदासी अस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं।

### ४.३ संवेग में शारीरिक परिवर्तन

संवेग के विविध प्रकारों को हमने समझा। ये सभी प्रकार के संवेग जब व्यक्ति को बार-बार प्रभावित करते हैं अथवा जब इनका अतिरेक होता है, तब ये व्यक्ति को न केवल मानसिक स्तर पर अपितु शारीरिक स्तर पर भी घात पहुँचाते हैं। संवेग मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इसे समझना भी बहुत जरूरी है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जब संवेग व्यक्ति को प्रभावित करते हैं, तब दो प्रकार से शारीरिक परिवर्तन घटित होता है— (१) बाह्य शारीरिक परिवर्तन, (२) आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन।

#### ४.३.१ बाह्य शारीरिक परिवर्तन

बाह्य शारीरिक परिवर्तन का अर्थ उन परिवर्तनों से है, जिनकी अभिव्यक्ति आँखों के द्वारा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

जब-जब संवेग उभर कर आते हैं, तब-तब व्यक्ति के चेहरे में, मुद्रा में तथा स्वर में परिवर्तन आ जाता है। संवेगावस्था में होने वाले इन परिवर्तनों को बाह्य शारीरिक परिवर्तन कहा जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने बाह्य शारीरिक परिवर्तनों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है— १. मुखाकृति में परिवर्तन, २. स्वर अभिव्यक्ति में परिवर्तन, ३. शारीरिक मुद्रा में परिवर्तन।

**१. मुखाकृति में परिवर्तन-** संवेग में व्यक्ति के चेहरे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार चेहरे में बहुत संवेदनशील एवं छोटी-छोटी पेशियाँ होती हैं जो संवेग के उत्पन्न होने पर फैलना, सिकुड़ना प्रारम्भ कर देती हैं। जिसके परिणामस्वरूप संवेगावस्था में चेहरा तमतमा जाना, भौंहे चढ़ जाना, आँखें लाल पड़ जाना तथा ललाट पर सिकुड़न आ जाना आदि परिवर्तन दिखाई देते हैं।

**२. स्वराभिव्यक्ति में परिवर्तन -** संवेगावस्था में आवाज में भी परिवर्तन आ जाता है। व्यक्ति भिन्न-भिन्न संवेगों में भिन्न-भिन्न प्रकार से बोलते, चिल्लाते हैं। भय, क्रोध, हँसते तथा रोते समय वाणी परिवर्तित हो जाती है। क्रोध के समय ध्वनि अत्यन्त कड़ी तथा प्रेम में अत्यन्त मधुर हुआ करती है।

**३. शारीरिक मुद्रा में परिवर्तन -** संवेगावस्था में शरीर की मुद्रा में भी परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग मिलते हैं। दुःख के संवेग में व्यक्ति का शरीर कुछ झुका हुआ तथा क्रोध में उसका शरीर कुछ अकड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक संवेग में व्यक्ति की हाथ, पैर, सिर आदि की विशेष मुद्रा होती है।

### ४.३.२ आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन

संवेग की स्थिति में बाह्य शारीरिक परिवर्तन के अलावा व्यक्ति के शरीर के भीतर भी कुछ परिवर्तन होते हैं, जिन्हें आन्तरिक परिवर्तन के अन्तर्गत लिया जाता है। आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन निम्नांकित हैं—

१. हृदय एवं नाड़ी गति में परिवर्तन,
२. रक्तचाप में परिवर्तन,
३. रक्त में रासायनिक परिवर्तन,
४. श्वास की गति में परिवर्तन,
५. पाचन क्रिया में परिवर्तन,
६. त्वचा सम्बन्धी परिवर्तन,
७. ग्रंथीय स्राव में परिवर्तन,
८. मस्तिष्कीय तरंगों में परिवर्तन।

**१. हृदय एवं नाड़ी गति में परिवर्तन -** संवेग की अवस्था में हृदय एवं नाड़ी दोनों की गति में परिवर्तन आ जाता है। लेफ्रानकोईस के अनुसार क्रोध एवं प्रेम की अवस्था में हृदय गति बढ़ जाती है तथा उदासी की अवस्था में हृदय गति सामान्य से कम हो जाती है। नाड़ी की गति हृदय तथा रक्त संचार पर निर्भर करती है। संवेगावस्था में हृदय तथा रक्त संचार में परिवर्तन होता है। परिणामतः नाड़ी की गति में भी परिवर्तन हो जाता है।

**२. रक्तचाप में परिवर्तन-** संवेग की अवस्था में सामान्य रक्तचाप के स्तर में परिवर्तन यानि कमी या वृद्धि हो जाती है। सामान्यतः क्रोध, भय तथा हर्ष में रक्तचाप में वृद्धि हो जाती है तथा शोक और दुःख की अवस्था में रक्तचाप में कमी होते हुए देखा गया है।

**३. रक्त में रासायनिक परिवर्तन -** संवेग की अवस्था में रक्त के रासायनिक तत्त्वों में भी परिवर्तन पाये जाते हैं। विविध अध्ययनों के अनुसार संवेगावस्था में रक्त में एडि-नालिन, जो एडि-नल ग्रंथि का स्राव होता है, की मात्रा अधिक हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने आप में फुर्तीलापन तथा सक्रियता महसूस करता है। सामान्यतः खून में चीनी की मात्रा बढ़ जाती है। इसके अलावा रक्त में लाल कणों की मात्रा भी बढ़ जाती है।

**४. श्वास की गति में परिवर्तन -** संवेग के समय श्वास के वेग तथा तीव्रता—दोनों में परिवर्तन होते हैं। भय के संवेग में श्वास कुछ समय के लिए रुक जाती है तथा बाद में तीव्र गति से बढ़ जाती है। शोकावस्था में श्वास धीमी पड़ जाती है। क्रोधावस्था में भी श्वास की गति बढ़ जाती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेगावस्था में श्वास की गति में परिवर्तन होता रहता है, ऐसा माना गया है।

**५. पाचन क्रिया में परिवर्तन -** संवेग के समय पाचन-क्रिया पूर्ण रूप से प्रभावित होती है। ऐसी अवस्था में पाचन-क्रिया या तो बन्द हो जाती है या मन्द पड़ जाती है अथवा तीव्र हो जाती है। मन्द पाचन क्रिया से व्यक्ति को अपच हो जाता है।

इसके अलावा गिल्फोर्ड ने यह भी सिद्ध किया है कि संवेगात्मक उत्तेजना में मलाशय तथा बड़ी आंत के कार्यों में भी काफी परिवर्तन आता है।

**६. त्वचा सम्बन्धी परिवर्तन** - संवेग के समय त्वचा में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। जैसे-त्वचा के रोम खड़े हो जाना, स्वेद ग्रंथियों से पसीना निकलना आदि। त्वचा में विद्युतीय अवरोध संवेग के समय घट जाता है।

**७. ग्रंथीय स्राव में परिवर्तन** - शरीर के भीतर अनेक ग्रंथियाँ हैं। मनोविज्ञान के अनुसार संवेगावस्था में अन्य ग्रंथियों के अलावा दो ग्रंथियों से निकलने वाले स्रावों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। वे दो लार ग्रंथि तथा एडि-नल ग्रंथि हैं। साथ ही यह भी यथार्थ है कि क्रोध, अहंकार आदि विभिन्न संवेगों की जननी भी यह एडि-नल ग्रंथि ही है। वेन्गर तथा इलिंगटन ने अपने अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि तीव्र संवेग की स्थिति में व्यक्ति की लार ग्रंथि से स्राव कम निकलता है। इसी कारण व्यक्ति को मुँह सूखा-सूखा अनुभव होता है तथा संवेग अवस्था में एडि-नल ग्रंथि से एडि-नालिन काफी निकलता है, जो रक्त में मिलकर अनेक परिवर्तन लाता है।

**८. मस्तिष्कीय तरंगों में परिवर्तन**- शरीरक्रिया मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेग की अवस्था में व्यक्ति के मस्तिष्क तरंगों में काफी परिवर्तन पाया जाता है। सामान्य अवस्था में मस्तिष्क के भीतर एक खास तरह की तरंग का निर्माण होता है, जिसे अल्फा तरंग कहा जाता है। इस तरंग द्वारा यह सूचित होता है कि व्यक्ति आराम अवस्था में है और उसमें किसी भी तरह का संवेगात्मक उत्तेजन नहीं हो रहा है। लेकिन जब व्यक्ति संवेगात्मक स्थिति में होता है। तब एक-दूसरे प्रकार की तरंग का निर्माण होता है, जिसे बीटा तरंग कहा जाता है।

## संवेगों का विकास

संवेग विकास के सन्दर्भ में मनोविज्ञान में भी काफी अध्ययन किया गया। मनोवैज्ञानिक वाटसन, जिन्होंने सबसे पहले इस विषय पर अध्ययन किया था, के अनुसार भय, क्रोध तथा प्रेम यह तीन संवेग व्यक्ति में जन्म से ही मौजूद रहते हैं। बाह्य निमित्त मिलने पर ये शिशु के व्यवहार से प्रकट भी होते हैं, जैसे-डर के संवेग में शिशु में सांस लेने की क्रिया थम जाती है। क्रोधावस्था में शिशु अपना शरीर कड़ा कर लेता है। प्यार या अनुराग में शिशु रोना बन्द कर देता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने वाटसन द्वारा प्रदत्त निष्कर्ष को अस्वीकार कर संवेग के विकास में मूलरूप से निम्नांकित दो कारकों को महत्त्व दिया है- (i) परिपक्वता (Maturation), (ii) सीखना (Learning)।

**(i) परिपक्वता (Maturation)** - जीव में विकास तथा वर्धन की क्रिया का पूरा होना परिपक्वता कहलाता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जैसे-जैसे परिपक्वता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शिशुओं में नये-नये संवेग भी विकसित होते जाते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस बात से पूरी तरह सहमत हैं कि जन्म के समय शिशुओं में सिर्फ सामान्य उत्तेजन पाया जाता है, जिससे बाद में, जैसे-जैसे परिपक्वता बढ़ती है, अन्य तरह के संवेग भी विकसित होते जाते हैं।

**(ii) सीखना (Learning)** - कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर इस बात पर अधिक जोर दिया है कि बड़ा होने पर व्यक्ति में जो संवेग का विकास होता है, उसमें सीखने का अधिक हाथ रहता है। शिशु जैसे-जैसे बड़ा होता है, उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार सीखने का अवसर मिलता है। फलतः वह नये-नये संवेगों की अभिव्यक्ति करना अथवा उन पर नियंत्रण करना इसी दौरान सीखता जाता है। भिन्न-भिन्न संस्कृति में जन्मे, पलेपुसे बालक संवेगों की अभिव्यक्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हुए पाये जाते हैं। इसके पीछे सीखने की क्रिया का ही हाथ है। बालक जिस प्रकार के संवेगों को सीखता है, वैसे ही संवेग विकसित हो जाते हैं।

---

## बोध-प्रश्न - १

---

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये-

1. भाव को मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझाइये।
2. भाव एवं संवेग को समझाते हुए संवेग के प्रकारों पर प्रकाश डालें।
3. संवेग के दौरान होने वाले शारीरिक परिवर्तनों पर विस्तारपूर्वक एक निबन्ध लिखें।
4. संवेग के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए संवेग विकास की प्रक्रिया को समझाइये।



## ४.४ भाव : आध्यात्मिक आधार

### ४.४.१ भाव : स्वरूप

मनुष्य हो या पशु अपने पूरे जीवनकाल में अनेक बार हर्षित होता है, दुःखी होता है, गुस्सा करता है, भयभीत होता है, दूसरों को ठगता है, हिंसा करता है, अहंकार करता है, प्रेम करता है तो किसी की मदद भी करता है। प्रसन्नता, गुस्सा, अहंकार, प्रेम, भय, धोखा, ईर्ष्या—ये सब क्या हैं? एक शब्द में कहा जाए तो प्राणियों की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उनके भीतर विद्यमान भावों की ही अभिव्यक्ति है।

अध्यात्म शास्त्रों के अनुसार भाव हमारे भीतर विद्यमान हैं। ये एक तरंग है, जो बाह्य अथवा आन्तरिक निमित्त मिलने पर विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। किसी ने गाली दी। गाली के शब्द कान में पड़ते ही व्यक्ति गुस्से से तिलमिला उठता है। उसकी इच्छा होती है कि गाली देने वाले की पिटाई कर दूँ। गाली बाह्य निमित्त है, बाह्य निमित्त मिलते ही व्यक्ति के भीतर विद्यमान गुस्से का भाव उफन आएगा। जो तरंग भीतर थी, स्थूल शरीर के माध्यम से गुस्से के रूप में प्रकट हो जाएगी।

‘जैन सिद्धान्त दीपिका’ में भाव को परिभाषित करते हुए कहा गया—कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होने वाली आत्मा की परिणति (अवस्था) भाव है।

वस्तुतः भाव के दो प्रकार हैं—सकारात्मक एवं नकारात्मक। क्रोध, घृणा, द्वेष, हिंसा, अहंकार, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, उद्वण्डता आदि नकारात्मक भाव हैं। प्रेम, मैत्री, करुणा, परोपकारिता, विनम्रता, सहिष्णुता आदि सकारात्मक भाव हैं। आत्मा शुद्ध, पवित्र चैतन्य स्वरूप है परन्तु जब कर्म रंजें इसे मलिन करती है, तब अशुद्ध भाव पैदा होते हैं। जितने-जितने कर्म परमाणु सघन होते हैं, आत्मा से निकलने वाली भावधारा उतनी ही अशुद्ध, अशुभ एवं नकारात्मक होती है। कर्मों का हल्कापन शुभ भावरूपी तरंगों का निर्माण करता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व भाव है। हमारे भावों की तरंग जैसी होती है, वैसा ही मन हो जाता है और जैसा मन होता है, वैसा ही शरीर हो जाता है। मन को संचालित करने वाला भाव ही है।

आयुर्वेद में तीन दोष माने जाते हैं—वात, पित्त और कफ। इन तीनों के असंतुलन से भी भाव प्रभावित होते हैं। भाव जब प्रभावित होते हैं तब हमारे स्वास्थ्य को भी प्रभावित करते हैं। चरक एवं सुश्रुत संहिता में नकारात्मक भावों के कारण होने वाली विविध प्रकार की बीमारियों का भी उल्लेख मिलता है।

क्र.सं.	नकारात्मक भाव	रोग
१.	क्रोधोद्वेग	पित्त ज्वर, पित्त प्रमेह
२.	शोकोद्वेग	वात ज्वर
३.	भय	कुष्ठ रोग, क्षय रोग
४.	शोक, चिंता	राजयक्ष्मा, वात गुल्म
५.	चिंता एवं भय	हृदय रोग
६.	ईर्ष्या	राजयक्ष्मा
७.	क्रोध	प्रतिश्याय, पित्तगुल्म, पित्तातिसार
८.	चिंता एवं क्रोध	वात व्याधि

इस प्रकार आयुर्वेद में भावों के असंतुलन को बीमारियों का एक मुख्य कारण माना गया है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार भाव सूक्ष्म होने के कारण हमें दिखाई नहीं देते परन्तु व्यक्ति के आचरण और व्यवहार से उसकी भावधारा का अनुमान किया जा सकता है। जो बात-बात में क्रोध करता है, उत्तेजित होता है तो मानना चाहिए उसके भीतर नकारात्मक भावधारा बह रही है। जो व्यक्ति कठिन परिस्थितियों को भी सहन कर लेता है, विनम्र होता है, सबको अपने सामर्थ्य के अनुसार सहयोग करने की सोचता है तो मानना चाहिए उस व्यक्ति के भीतर सकारात्मक अथवा शुभ भावधारा बह रही है।

शुभ भावधारा वाला व्यक्ति ही स्वयं के लिए एवं समाज के लिए अच्छा कार्य कर सकता है। अशुभ भावों वाला न स्वयं सुखी रहता है और न औरों को सुखी रहने देता है।

मनुस्मृति में भी कहा गया है—

**वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।  
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥**

अर्थात् जिस व्यक्ति की भावना दोषपूर्ण है, उसके ज्ञान, त्याग, यम, नियम, तप आदि कभी भी सफल नहीं हो सकते।

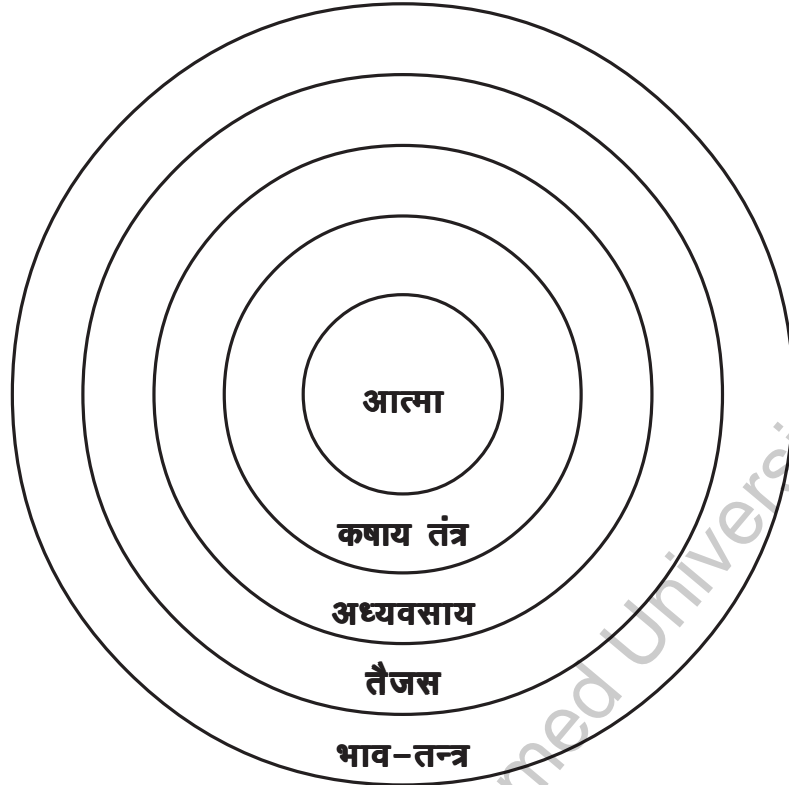
### ४.४.२ भाव एवं संवेग में अन्तर

भाव को अंग्रेजी में फीलिंग (feeling) कहा जाता है। फीलिंग शब्द 'फील' से बना है, जिसका अर्थ होता है—अनुभव करना। इस अर्थ में भाव एक आन्तरिक अनुभूति मात्र है। इसका सूक्ष्म रूप तरंग के रूप में होता है और स्थूल रूप अनुभूति मात्र है। सुख की अनुभूति, दुःख की अनुभूति अथवा क्रोध की अनुभूति। परन्तु संवेग एक आवेग है। अंग्रेजी में इसे इमोशन (emotion) कहा जाता है। 'इमोशन' 'मोशन' शब्द से बना है। 'मोशन' शब्द का अर्थ चाल या वेग होता है। भाव का गतिमान होकर शरीर के द्वारा क्रोध, घृणा, भय आदि रूपों में प्रकट होना संवेग कहलाता है। जब तक क्रोध, घृणा आदि अनुभूतियाँ भीतर पड़ी हैं, तब तक वे भाव कहलाती हैं लेकिन वे ही जब व्यक्ति के हावभाव, चेहरे अथवा शरीर के माध्यम से प्रकट होती हैं, तब संवेग कहलाती हैं। भाव एवं संवेग के अन्तर को निम्न बिन्दुओं के द्वारा और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

१. भावावस्था में व्यक्ति की बुद्धि संतुलित रहती है। परन्तु संवेगावस्था में उसकी बुद्धि उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, भला-बुरा आदि का निर्णय करने योग्य नहीं रहती।
२. भाव एक आन्तरिक अनुभूति मात्र है, जबकि आवेग शरीर पर प्रकट हो जाते हैं। जैसे—क्रोध के समय आँखें लाल हो जाना, होठ फड़फड़ाना आदि। भाव केवल सुखात्मक-दुःखात्मक दो ही वर्गों में बाँटे जाते हैं, जबकि संवेग कई प्रकार के होते हैं।
३. भाव की अवस्था में मानसिक स्थिति सामान्य रहती है। संवेगावस्था में मानसिक स्थिति भी असामान्य एवं उद्वेलित हो जाती है।
४. भाव में व्यक्ति को सुख या दुःख का संवेदन मात्र होता है। इस अवस्था में व्यक्ति सुख, दुःख का अनुभव करते हुए भी शांत एवं गंभीर रह सकता है। संवेगावस्था में स्वयं पर नियंत्रण नहीं रहता। सुख-दुःख से प्रभावित होकर व्यक्ति उछल जाता है और हर्ष, शोक, घृणा, चिंता आदि में डूब जाता है, जिसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है।
५. भाव में स्नायु तन्त्र कम प्रभावित होता है जबकि संवेग के समय स्नायुतन्त्र का बहुत बड़ा भाग कार्य करता है।
६. भाव की विद्यमानता में शरीर की साम्यावस्था पर कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु संवेगावस्था में शरीर की साम्यावस्था असंतुलित हो जाती है, जैसे—श्वसन दर का बढ़ना, हृदय गति का बढ़ना आदि।

### ४.४.३ उत्पत्ति प्रक्रिया

संवेग एक ऐसा तत्त्व है, जो न केवल मानव शरीर को अपितु मन को भी प्रभावित करता है। जब-जब संवेग प्रकट होते हैं, व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार से असंतुलित हो जाता है। अतः संवेगों को नियंत्रण करना जरूरी है। संवेगों का मूल कारण है—भाव। संवेग तो केवल उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। अतः कार्य को समाप्त करने के लिए कारण को समाप्त करना जरूरी है। संवेग को नियंत्रित करने के लिए भाव को नियंत्रित करना जरूरी है। भाव नियंत्रण के लिए भाव उत्पन्न कैसे होते हैं? इस प्रक्रिया को समझना जरूरी है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार भाव के बीज हमारे स्थूल शरीर में नहीं हैं। वे हमारे सूक्ष्मतम शरीर (कार्मण शरीर) में हैं। वहाँ से छनकर स्थूल शरीर में आते हैं। वस्तुतः आत्मा के चारों ओर कषाय तन्त्र है। आत्मा के स्पन्दन जब कषाय तन्त्र को पार कर बाहर आते हैं तब अध्यवसाय तन्त्र का निर्माण होता है। अध्यवसाय तन्त्र से स्पन्दन जब आगे बढ़ते हैं तब तैजस् शरीर के सम्पर्क में आते हैं। तैजस् शरीर से आगे बढ़कर ये ही स्पन्दन भाव-तन्त्र का निर्माण करते हैं। व्यक्ति के व्यवहार अथवा स्थूल शरीर के द्वारा प्रकट होने वाले जितने भी अच्छे या बुरे भाव हैं, वे इसी तन्त्र के द्वारा निर्मित होते हैं।



इस प्रकार उपरोक्त चित्र के द्वारा स्पष्टतः समझा जा सकता है कि सबसे पहले आत्मा है। आत्मा कर्मों से आबद्ध है। कर्म परमाणु मिलकर कार्मण शरीर (कषाय तन्त्र) का निर्माण करते हैं। आत्मा का प्रकाश स्पन्दन रूप में जब कषाय-तन्त्र को पार करता है तब अध्यवसाय का निर्माण होता है। अध्यवसाय से आगे बढ़कर वह स्पन्दन तैजस शरीर में पहुँचते हैं। तैजस शरीर से आगे बढ़कर यह स्पन्दन भाव-तन्त्र का निर्माण करते हैं। हमारे व्यवहार से प्रकट होने वाले जितने सकारात्मक या नकारात्मक भाव हैं, वे अध्यात्म की भाषा में इसी तन्त्र से निर्मित होते हैं।

#### ४.४.४ भाव एवं संवेग : नियंत्रण पद्धति

जैसा कि हमने जाना संवेग व्यक्ति को शारीरिक रूप से प्रभावित करते हैं और यह प्रभाव आन्तरिक एवं बाह्य –दोनों प्रकार का हो सकता है। जब संवेग व्यक्ति के शरीर को प्रभावित करते हैं तो शरीर को अधिक श्रम करना पड़ता है, जिससे शरीर की ऊर्जा अधिक खपत होती है। यद्यपि संवेगों का कुछ दिनों तक कोई खास प्रभाव महसूस नहीं होता लेकिन जब संवेग व्यक्ति को बार-बार प्रभावित करते हैं तब अनेक प्रकार की बीमारियाँ शरीर में पनपने लगती हैं और भी अनेक दुष्परिणाम व्यक्ति के सामने आते हैं। अतः आवश्यक है कि एक विद्यार्थी संवेगों के दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझकर इन पर नियंत्रण की प्रक्रिया को अपनाएँ।

**१. संवेग की पहचान-** क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि सभी अनेक प्रकार के संवेग हैं। ये व्यक्ति के व्यवहार के माध्यम से प्रकट होते रहते हैं। फिर भी बहुत बार व्यक्ति जान ही नहीं पाता कि उसका व्यवहार इन संवेगों से युक्त है। वह बहुत बार क्रोध करता है, बहुत बार अहंकार के वशीभूत हो जाता है, माया, छलना करता है। परन्तु वह स्वयं ही इन सबको पहचान नहीं पाता कि उसके व्यवहार के द्वारा प्रकट होने वाला अमुक-अमुक व्यवहार संवेग है। अतः संवेग नियंत्रण के लिए सबसे पहली आवश्यकता है व्यक्ति अपने संवेगों को पहचाने। किस समय कौन-से संवेग ने मुझे प्रभावित किया है। कौन-सा कार्य मैंने किस संवेग से प्रभावित होकर किया है, उसे समझें। स्वयं के संवेग को पहचाने बिना उसके नियंत्रण की बात लाभदायी नहीं हो सकती।

**२. प्रतिपक्षी भावना का प्रयोग-** आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रतिपक्षी भावना का प्रयोग आदतों को बदलने का सफल प्रयोग है। इसके द्वारा पुराने संस्कारों को समाप्त और नए संस्कारों का निर्माण किया जा सकता है। जैसे-क्रोध एक संवेग है, इसका प्रतिपक्षी है-क्षमा, सहिष्णुता। जिनको क्रोध आता है वे उसके प्रतिपक्षी भाव अर्थात् क्षमा और सहिष्णुता की भावना करें। प्रतिपक्षी भावना के द्वारा संस्कार निर्माण की विधि निम्नलिखित है-

१. प्रतिपक्षी भाव पर दीर्घकालीन एकाग्रता।

२. कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्वतः सुझाव। सुझाव दूसरे व्यक्ति के द्वारा भी दिया जा सकता है।

प्रतिपक्षी भावना के बार-बार भीतर पहुँचने से नए संस्कार के निर्माण में सफलता मिलती है। पुराने संस्कार मिट जाते हैं।

**३. भावशुद्धि का प्रयोग-** संवेग तभी उत्पन्न होते हैं जब भाव अशुद्ध होते हैं। भावधारा ही संवेगों का निर्माण करती है। अतः संवेग शुद्धि के लिए भावशुद्धि का प्रयोग करना जरूरी है। भावशुद्धि के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—“**लेश्याध्यान**”। यह रंगों का ध्यान है। व्यक्ति प्रशस्त रंगों का ध्यान करता है, तब ये रंग व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, उसके आभामण्डल को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के भाव-तन्त्र को प्रभावित करते हैं, जिससे अशुद्ध भावधारा का परिष्कार होता है। शुभ भावों का संचार होता है। शुभ भावों के निर्माण से संवेग अपने आप ही नियंत्रित हो जाते हैं। निम्नांकित केन्द्रों पर निश्चित रंग का ध्यान कर शुभ भावना से अपने आपको भावित करने पर संवेग नियंत्रित होते हैं—

क्र.सं.	केन्द्र	रंग	भावना
१.	आनन्द केन्द्र	हरा	भावधारा निर्मल हो रही है।
२.	विशुद्धि केन्द्र	नीला	वासनाएँ अनुशासित हो रही हैं।
३.	दर्शन केन्द्र	अरुण	अन्तर्दृष्टि जागृत हो रही है।
४.	ज्ञान केन्द्र	पीला	ज्ञान तन्तु सक्रिय हो रहे हैं।
५.	ज्योति केन्द्र	सफेद	कषाय उपशान्त हो रहे हैं अथवा क्रोध शान्त हो रहा है।

## बोध-प्रश्न - २

### निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. भाव के स्वरूप को अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में समझाइये।
२. भाव एवं संवेग के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भाव उत्पत्ति की प्रक्रिया को अपने शब्दों में समझाइये।
३. भाव के स्वरूप पर मनोविज्ञान एवं अध्यात्म दोनों के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालते हुए भाव नियंत्रण की प्रक्रिया को समझाइये।

## ४.५ अभिप्रेरणा : मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, क्योंकि वह समाज में जीता है। वह एक परिवार का भी सदस्य होता है। समाज व परिवार का अभिन्न अंग होने के कारण वह ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो परिवार व समाज के नियम विरुद्ध हो। ऐसी अवस्था में उसे अपनी अनेक इच्छाओं, आकांक्षाओं को जाने-अनजाने दबाना पड़ता है। यह दमित इच्छाएँ बहुत बार हानिकारक भी हो सकती हैं। विकृत रूप में व्यवहार के द्वारा प्रकट हो सकती हैं। अतः मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इन इच्छाओं व आकांक्षाओं का दमन करने की बजाय इनका परिष्कार करना ज्यादा समीचीन है। इनके परिष्कार के लिए पहली अपेक्षा है उन कारकों को समझा जाए, जिनके कारण इच्छाएँ, आकांक्षाएँ पैदा होती हैं। मनोविज्ञान के अन्तर्गत उन कारकों का विस्तृत विवेचन मिलता है। मनोवैज्ञानिकों ने इच्छा, चाह अथवा आकांक्षाएँ पैदा करने वाले उन कारकों को अभिप्रेरणा नाम से सम्बोधित किया है। व्यवहार परिष्कार हेतु अभिप्रेरक, अभिप्रेरकों के कारण उत्पन्न होने वाले संघर्ष की विविध अवस्थाओं तथा संघर्ष समाधान के लिए आवश्यक उपायों को समझना जरूरी है। प्रस्तुत इकाई में इन्हीं बातों की जानकारी दी गई है ताकि विद्यार्थी अपने द्वारा किये जाने वाले निश्चित व्यवहार के कारकों को समझें तथा उन कारकों को नियंत्रित करने का प्रयास करें।

### ४.५.१ अभिप्रेरणा : अर्थ एवं परिभाषाएँ

दर्शन जगत् का एक प्रचलित सिद्धान्त है—“कार्य-कारण का सिद्धान्त”। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कोई भी कार्य घटित नहीं होता।

मनोविज्ञान ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी प्राणी जितनी भी क्रियाएँ करता है, उनके पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। इन्हीं कारणों को उन्होंने अभिप्रेरण के रूप में स्वीकार किया है। अभिप्रेरण शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची Motivation है। 'मोटिवेशन' शब्द लैटिन धातु "Movere" से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—To Move। इस अर्थ में मोटिवेशन शब्द का तात्पर्य है—Something that moves a person to action. वह जो व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। दूसरे शब्दों में Motivation means something which implies or drives people forward.

मनोवैज्ञानिक मन (Munn) के शब्दों में प्रेरित शब्द का अर्थ है—गतिमान होना अथवा क्रियान्वित होना। इस रूप में कोई भी शक्ति जो क्रिया को उत्पन्न करती है, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य प्रेरणा कहलाती है।

गिलफोर्ड के अनुसार, "प्रेरणा एक विशेष आन्तरिक अवस्था है, जो क्रिया को प्रारम्भ करने अथवा निरन्तर बनाये रखने की प्रकृति रखती है।"

हिलगार्ड तथा एटकिंसन के शब्दों में—"अभिप्रेरण से हमारा तात्पर्य उस वस्तु से है, जो प्राणी को कार्य करने के लिए उत्तेजित करती है अथवा प्राणी के एक बार कार्य करने के लिए तैयार हो जाने के बाद क्रिया करने के लिए निर्देशित तथा उत्साहित करती है।

वस्तुतः प्रेरणा प्रत्येक मनुष्य के दैनिक अनुभव का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति में लिखने की, वक्ता बनने की अथवा किसी बड़े कार्य को करने का सामर्थ्य होता है, परन्तु कुछ ही व्यक्ति उत्कृष्ट वक्ता, कवि या लेखक बन सकते हैं। इसके पीछे मूल कारण अभिप्रेरण ही है। सामर्थ्य होने के बाद जितनी जबर्दस्त प्रेरणा होती है, काम उतना ही जल्दी या अच्छा होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार माँ बालक के पालन-पोषण में दिन-रात लगी रहती है, उसको नहलाती है, उसको दूध पिलाती है, उसको थपकियाँ देकर सुलाती है, उसके बीमार होने पर रात भर जागती रहती है, उस पर तनिक-सी भी आपत्ति देखकर व्याकुल हो जाती है। बच्चे के प्रति माँ का यह समस्त व्यवहार प्रेरणा का ही परिणाम है। इस प्रकार पढ़ने, लिखने, दोस्ती, प्रेम, स्नेह, वैर, लड़ाई-झगड़ा, चोरी, डकैती, सामान्य-असामान्य सभी प्रकार के मानव और पशु-व्यवहार के पीछे प्रेरक कारण ही काम करते हैं। प्रेरणा जीवित प्राणी के शरीर रूपी यंत्र की चालक-शक्ति है। इसके अभाव में वह काम नहीं कर सकता। अभिप्रेरण में वे सारी आन्तरिक अवस्थाएँ आ जाती हैं, जो कि किसी क्रिया को छेड़ती या उसको बनाये रखती हैं।

अभिप्रेरण के सन्दर्भ में हमें यह भी जान लेना चाहिए कि प्रेरणा और उद्दीपन दोनों भिन्न हैं। यदि आन्तरिक प्रेरणा न हो तो बाह्य उद्दीपन के तीव्र होने पर भी अनुक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः प्रेरणा के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि जीव में क्रिया उत्पन्न करने वाले आन्तरिक एवं बाह्य सभी कारक अभिप्रेरण हैं। अन्तर्नोद, आवश्यकताएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ—ये सभी अभिप्रेरण के ही पर्यायवाची हैं।

#### ४.५.२ अभिप्रेरण : विशेषताएँ

किसी भी व्यक्ति या पशु के व्यवहार को प्रेरित करने वाले कारक अभिप्रेरण हैं। इतना कहने मात्र से अभिप्रेरण को सही ढंग से नहीं समझा जा सकता। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने कुछ विशेषताओं की चर्चा की है, जिन्हें समझ लेने पर अभिप्रेरण को समझना आसान हो सकता है अर्थात् प्रेरणा युक्त व्यवहार का पता लगाया जा सकता है।

**१. शक्ति संचालन-** अभिप्रेरण से युक्त व्यवहार की पहली विशेषता है—शक्ति संचालन। सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी में असीम शक्ति होती है परन्तु यह शक्ति दिखाई नहीं देती, क्योंकि सामान्य अवस्थाओं में व्यक्ति इसका उपयोग नहीं कर रहा होता है। लेकिन जब कभी कोई आपत्ति या चुनौती व्यक्ति के सामने आती है तब व्यक्ति ऐसा कार्य कर गुजरता है, जो उसने स्वयं ने भी कभी नहीं सोचा था। जैसे—किसी मकान में आग लग जाए, या कोई जहरीला साँप सामने आ जाए तो उदासीन बैठा व्यक्ति भी पूरी ताकत लगाकर बचकर निकलने में समर्थ हो जाता है। तात्पर्य यही है कि शक्ति भीतर है परन्तु प्रेरणा पाकर वह अभिव्यक्त हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि अभिप्रेरण शक्ति को संचालित करने का एक सशक्त माध्यम है।

**२. निरन्तरता-** अभिप्रेरण युक्त व्यवहार की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है—निरन्तरता। जिन व्यक्तियों का जीवन अभिप्रेरण से युक्त होता है, उन व्यक्तियों के भीतर अपने लक्ष्य को हासिल करने के लिए निरन्तरता पाई जाती है अर्थात् जब तक



वह अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर ले, तब तक वह उसकी प्राप्ति में निरन्तर लगे रहते हैं। जैसे—भोजन की खोज में घूमता हुआ जीव तब तक घूमता ही रहता है, जब तक कि उसे भोजन प्राप्त न हो जाए। कैरियर बनाने के लक्ष्य से प्रेरित युवक वर्षों तक बराबर परिश्रम करता रहता है, जब तक कि वह कहीं अच्छी नौकरी प्राप्त न कर ले।

**३. परिवर्तनशीलता** – अभिप्रेरित व्यवहार की तीसरी विशेषता है—परिवर्तनशीलता। कोई भी प्राणी जो अभिप्रेरणा से युक्त है, वह जब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर ले तब तक उसे प्राप्त करने में लगा रहेगा, साथ ही उस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधनों को भी बदलता रहेगा। नये-नये उपाय अपनाता रहेगा। जैसे—कैरियर बनाने में लगा हुआ युवक बीसों तरकीबें लड़ाता है। कभी वह किसी प्रतियोगिता में भाग लेता है, कभी किसी परीक्षा के लिये जी-जान एक कर देता है। कभी किसी सीनियर अध्यापक के यहाँ चक्कर लगाता है। इस प्रकार अभिप्रेरणा से युक्त व्यक्ति के जीवन में परिवर्तनशीलता पायी जाती है।

**४. लक्ष्य प्राप्त करने की बेचैनी** – अभिप्रेरणा से युक्त व्यवहार में लक्ष्य को प्राप्त करने की बेचैनी बनी रहती है। जैसे—किसी व्यक्ति को भूख लगी हुई है। भूख से पीड़ित व्यक्ति भोजन के लिए आकुल-व्याकुल रहता है। इस प्रकार लक्ष्य किसी भी प्रकार का हो प्राप्त न होने तक बेचैनी बनी रहती है।

**५. लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् बेचैनी समाप्त हो जाती है** – जीव जब प्रेरणा की अवस्था में होता है, तब उसे आन्तरिक बेचैनी का अनुभव होता है, जिसके कारण शरीर का आन्तरिक सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। जब तक भोजन नहीं मिलता, जीव बेचैन रहता है। क्षुधा तृप्ति के लिए घूमता रहता है। शारीरिक असंतुलन का भी अनुभव करता है। परन्तु जैसे ही भोजन प्राप्त होता है, बेचैनी समाप्त हो जाती है।

## ४.६ अभिप्रेरण के प्रकार

अभिप्रेरण को समझ लेने के पश्चात् यह समझना आवश्यक है कि वे अभिप्रेरण कौन-कौन से हैं? कितने प्रकार के हैं? मनोवैज्ञानिकों ने अभिप्रेरण को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया है— १. जन्मजात अभिप्रेरक, २. अर्जित अभिप्रेरक।

### ४.६.१ जन्मजात अभिप्रेरक

जन्मजात अभिप्रेरक उन अभिप्रेरक को कहा जाता है, जो जन्म से ही व्यक्ति या प्राणी के भीतर मौजूद रहते हैं। इन अभिप्रेरकों के अभाव में प्राणी का जीवित रहना ही असंभव है। इन अभिप्रेरकों को शारीरिक अभिप्रेरक या जैविक अभिप्रेरक भी कहा जाता है। कुछ जन्मजात अभिप्रेरक निम्नलिखित हैं— १. भूख, २. प्यास, ३. काम, ४. तापक्रम नियमन, ५. मल-मूत्र त्याग, ६. नींद, ७. दर्द परिहार।

**१. भूख**— भूख एक जन्मजात अभिप्रेरक है। शरीर-शास्त्रियों के अनुसार जब रक्त में शर्करा की मात्रा निर्धारित स्तर से कम हो जाती है तो पेट में संकोचन होने लगता है। इसी संकोचन क्रिया के आधार पर पेट की माँसपेशियों में दर्द का अनुभव होने लगता है। इसे ही व्यक्ति भूख के रूप में समझता है। भूख का नियंत्रण मस्तिष्क के हाइपोथैलेमस भाग से होता है। हाइपोथैलेमस से निकलकर आमाशय तक पहुँचने वाली वेगस नर्व (vagus nerve) ही आमाशय के संकुचन-विकोचन का कार्य करती है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति को भूख की अनुभूति होती है और जब व्यक्ति भोजन करता है तब उसे तृप्ति की अनुभूति होती है। परन्तु यह तृप्ति केन्द्र मस्तिष्क के हाइपोथैलेमस के ही दूसरे भाग में है।

**२. प्यास** – प्यास भी एक जन्मजात अभिप्रेरक है। यह भी व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकता है। जब प्राणी को प्यास लगती है तो गला सूखने लगता है। परन्तु प्यास का सम्बन्ध गले से नहीं है। अपितु शरीर शास्त्रियों के अनुसार रक्त में पानी की कमी हो जाना प्यास का मुख्य कारण है। जिस प्रकार भूख का नियंत्रण मस्तिष्क के द्वारा होता है, ठीक उसी प्रकार से प्यास का नियंत्रण भी मस्तिष्क के द्वारा होता है।

**३. काम** – काम सम्बन्धी प्रेरणा प्राणी में जन्मजात होती है परन्तु इसकी अभिव्यक्ति कुछ समय के बाद होती है जब उसके काम सम्बन्धी अवयव पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं। काम अभिप्रेरक की व्याख्या विशेषज्ञों ने दो प्रकार के शारीरिक आधारों पर किया है— (i) हारमोनल कारक, (ii) मस्तिष्क सम्बन्धी कारक।

**(i) हारमोनल कारक** – स्त्री की यौन ग्रंथि को डिम्ब ग्रंथि (ovary) तथा पुरुष की यौन ग्रंथि को अण्डग्रंथि (testide) कहते हैं। इन ग्रंथियों से स्त्री हार्मोन्स तथा पुरुष हार्मोन्स निकलते हैं। स्त्री हार्मोन्स में एस्ट्रोजेनस् तथा पुरुष हार्मोन्स में टेस्टोस्टे-न मुख्य है। जब रक्त में इन हार्मोन्स की मात्रा बढ़ जाती है तब व्यक्ति में काम की भावना जागृत होती है।

(ii) **मस्तिष्क सम्बन्धी कारक** - कुछ विशेषज्ञों ने काम की व्याख्या मस्तिष्क के सम्बन्ध में की है। उनके अनुसार मस्तिष्क का एक भाग हाइपोथैलेमस इसके लिए उत्तरदायी है। पशुओं पर किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि हाइपोथैलेमस में घाव उत्पन्न करने से काम भावना कम हुई तथा इसे उत्तेजित करने पर इस भावना में तीव्रता का अनुभव किया गया।

**४. नींद** - प्राणी के लिए चौथा जन्मजात अभिप्रेरक है—नींद। निद्रा एक ऐसी क्रिया है, जो हमारा सबसे अधिक समय लेती है। निद्रा का केन्द्र भी हाइपोथैलेमस में ही होता है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि निद्रा में व्यक्ति निश्चेष्ट नहीं रहता। साधारणतया वह लगभग प्रत्येक १२ मिनट में शरीर की स्थिति में कुछ न कुछ परिवर्तन करता रहता है। नींद थकान तथा उद्दीपनों के अभाव की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति में नींद की अपनी-अपनी आदतें होती हैं। सोने के बाद पहले कुछ घंटों में नींद सबसे अधिक गहरी होती है और बाद में हल्की होती चली जाती है।

**५. तापक्रम का नियमन** - मस्तिष्क का ही महत्वपूर्ण भाग हाइपोथैलेमस शारीरिक तापक्रम को नियंत्रित करने का एक स्वतःचालित यंत्र है। इससे शारीरिक तापक्रम में कभी भी अत्यधिक अन्तर नहीं हो पाता। शरीर में कुछ अवांछित या हानिकारक तत्वों के पहुँचने पर कभी-कभी यह तापक्रम स्वतः बढ़ जाता है, जिसे हम बुखार/ज्वर कहते हैं। विषैले तत्वों का निरसन होने पर स्वतः तापक्रम संतुलित हो जाता है।

**६. मलमूत्र त्याग** - मलमूत्र त्यागने की इच्छा भी जन्मजात होती है। जब व्यक्ति के बड़ी आंत में खाये हुए भोजन का अवशिष्ट पदार्थ अधिक जमा हो जाता है, तब उसमें मल विसर्जन करने का अभिप्रेरक उत्पन्न होता है। ठीक इसी तरह जब व्यक्ति के ब्लाडर में मूत्र अधिक जमा हो जाता है तब मूत्र त्यागने की इच्छा होती है।

**७. दर्द का परिहार**— यह वृत्ति भी अभिप्रेरक के रूप में जन्म के साथ ही प्रत्येक प्राणी को प्राप्त होती है। प्रत्येक प्राणी अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति तथा कष्ट की निवृत्ति चाहता है। कष्टदायक वस्तुओं से वह दूर इसलिए रहना चाहता है, क्योंकि यह अवस्था सहनीय नहीं होती।

## ४.६.२ अर्जित अभिप्रेरक

अर्जित अभिप्रेरक उन अभिप्रेरक को कहा जाता है जो व्यक्ति में जन्म से तो मौजूद नहीं होते परन्तु इन्हें व्यक्ति अपने जीवनकाल में सामाजिक रूप से अपने को श्रेष्ठ बनाए रखने के लिए सीख लेता है। यह अभिप्रेरक कुछ ऐसे होते हैं, जिनके बिना व्यक्ति जैविक रूप से तो जिन्दा रह सकता है परन्तु सामाजिक रूप से उसका जीवित रहना संभव नहीं है। अर्जित अभिप्रेरक के इसी सामाजिक महत्त्व के कारण इसे सामाजिक अभिप्रेरक भी कहा जाता है। प्रमुख सामाजिक अभिप्रेरक निम्नांकित हैं— १. उपलब्धि अभिप्रेरक, २. संबंधन अभिप्रेरक, ३. स्तर एवं सत्ता अभिप्रेरक, ४. आक्रमणशीलता अभिप्रेरक, ५. अनुमोदन अभिप्रेरक।

**१. उपलब्धि अभिप्रेरक** - उपलब्धि अभिप्रेरक एक अर्जित अभिप्रेरक है। इससे प्रेरित होकर व्यक्ति अपने कार्य को इस ढंग से करता है कि उसे अधिक से अधिक सफलता मिल सके। जिन व्यक्तियों में उपलब्धि अभिप्रेरक अधिक होता है, वे अपनी जिन्दगी में अधिक से अधिक उच्च स्तर की सफलता प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। यह अभिप्रेरक सभी व्यक्तियों में समान नहीं होता है। किसी में यह अभिप्रेरक काफी अधिक होता है तो किसी में कम होता है। जितना अधिक होता है व्यक्ति की पदार्थ, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने की आकांक्षा उतनी ही उच्च होती है।

**२. संबंधन अभिप्रेरक** - संबंधन अर्थात् सामुदायिकता, दूसरों के साथ रहने की प्रवृत्ति। यह भी एक सामाजिक अभिप्रेरक है। इस अभिप्रेरक के कारण व्यक्ति या पशु अपने समुदाय के लोगों के साथ रहना चाहता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस व्यवहार के उत्पन्न होने में शैशवावस्था की अनुभूतियाँ काफी महत्वपूर्ण निर्धारक के रूप में कार्य करती हैं। कारपेन्टर ने एक अध्ययन किया, जिसमें कुछ बन्दरों के बच्चों को जन्म के कुछ महीनों बाद तक अन्य सभी बन्दरों से अलग रखकर पाला-पोसा गया। फिर बाद में उन्हें सभी बन्दरों के साथ रखा गया। परिणामस्वरूप देखा गया कि इन बन्दरों में सामुदायिकता का गुण नहीं था। वे पहले के समान अकेला रहना पसन्द करते थे। अतः यह सिद्ध है कि संबंधन एक अर्जित सामाजिक अभिप्रेरण है।

**३. सत्ता अभिप्रेरक** - सत्ता की आवश्यकता भी व्यक्ति की एक प्रमुख सामाजिक आवश्यकता है। जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य व्यक्तियों पर अपना प्रभुत्व बनाए रखना चाहता है। जिन व्यक्तियों में यह अभिप्रेरण अधिक होता है, वे अन्य व्यक्तियों को

धमकी देकर या प्रार्थना करके अपनी इच्छानुसार कार्य करवाने में समर्थ होते हैं। होयोनगा तथा होयेनगा ने अपने कई अध्ययनों के आधार पर यह बतलाया है जिसमें सत्ता अभिप्रेरक अधिक होता है, इस अभिप्रेरक की अभिव्यक्ति निम्नांकित ढंग से करते हैं—

१. ऐसे लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतियोगिता, खेलकूद, जैसे—फुटबाल, क्रिकेट आदि में अधिक भाग लेते हैं और अपने विरोधी दल को हराने के हर संभव प्रयास करते हैं।

२. निम्न सामाजिक स्तर के लोगों के प्रति ऐसे लोग अधिक आवेगशील तथा आक्रमणशील व्यवहार दिखलाते हैं।

३. ऐसे लोग विशेषकर स्त्रियाँ अपने शरीर को काफी आकर्षक तथा अनुशासित करके रखती हैं ताकि दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने में सुविधा हो।

४. ऐसे लोग घर में अनेक प्रकार की सामग्रियों को इकट्ठा करते हैं ताकि दूसरे लोग उनके सामान को देखकर उसके धनी होने का अंदाज आसानी से कर सकें।

५. ये उन लोगों से संबंध अधिक रखते हैं, जो लोकप्रिय कम होते हैं, क्योंकि ऐसे लोगों को नियंत्रित करना काफी आसान होता है।

**४. आक्रमणशीलता** - आक्रमणशीलता एक प्रमुख सामाजिक अभिप्रेरक है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को शाब्दिक रूप से या शारीरिक रूप से चोट पहुँचाने की कोशिश करता है।

यह व्यवहार प्रायः सभी जातियों में किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। इसी सर्वव्यापकता के कारण कुछ लोगों ने इसे जन्मजात अभिप्रेरक भी माना है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने इसे जन्मजात अभिप्रेरक की श्रेणी में रखा है। उनका विचार था कि व्यक्ति में किसी चीज को बर्बाद करने की या किसी व्यक्ति को चोट पहुँचाने की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। परन्तु बाद के मनोवैज्ञानिक गोलार्ड तथा उनके सहयोगियों ने अपने प्रयोगों के आधार पर सिद्ध किया है कि यह प्रवृत्ति जन्मजात नहीं अपितु अर्जित है। व्यक्ति जब अपने लक्ष्य की प्राप्ति किसी कारण से नहीं कर पाता है तब उसमें एक विशेष प्रकार की कुण्टा उत्पन्न हो जाती है, जिसकी अभिव्यक्ति वह आक्रामक व्यवहार से करता है।

**५. अनुमोदन अभिप्रेरक** - अनुमोदन अभिप्रेरक का तात्पर्य है—व्यक्ति द्वारा दूसरों से प्रतिष्ठा, प्रशंसा, सम्मान पाने की उम्मीद का होना। क्राउनी तथा मारलो ने अपने अध्ययन के आधार पर अनुमोदन अभिप्रेरक के बारे में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं—

१. ऐसे लोग जिनमें इस अभिप्रेरण की मात्रा अधिक होती है, वे समूह के नियमों एवं आदर्शों के समरूप व्यवहार अधिक करते हैं।

२. अधिक तीव्र अनुमोदन अभिप्रेरक की उत्पत्ति अपने अन्दर के आत्म-सम्मान के निम्न स्तर को ऊँचा करने की इच्छा के फलस्वरूप होता है।

---

## ४.७ संघर्ष : उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक अवधारणा

---

### ४.७.१ संघर्ष : उत्पत्ति की प्रक्रिया

मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है। वह अपने जीवन को सही ढंग से चलाने अथवा जैविक एवं अर्जित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक निश्चित लक्ष्य निर्माण करता है और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रयास करता है। परन्तु जब कभी वह किन्हीं कारणों से या विघ्न बाधाओं से उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता अथवा प्राप्त करने में कठिनाई पैदा हो जाती है तब उसके भीतर एक मानसिक द्वन्द्व पैदा हो जाता है। मन की इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति को संघर्ष कहा जाता है। मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति ही संघर्ष है। संघर्ष को और स्पष्ट करते हुए मनोवैज्ञानिक रुक (Ruch, १९६७) कहते हैं— “जब व्यक्ति को दो लक्ष्यों में से किसी एक को चुनना होता है या एक ही लक्ष्य के प्रति व्यक्ति में सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही भाव उत्पन्न होते हैं, तब संघर्ष उत्पन्न होता है।” वस्तुतः संघर्ष एक ऐसी मानसिक स्थिति है, जो लक्ष्य प्राप्ति में बाधक तत्त्व उपस्थित होने पर पैदा होता है। जैसे—कोई स्त्री अपनी मधुर आवाज के कारण गायन प्रतियोगिता में भाग लेकर प्रथम स्थान प्राप्त करना चाहती है, परन्तु

स्टेज फीयर के कारण वह स्टेज पर लोगों के सामने भी नहीं आना चाहती तो ऐसी स्थिति में उसके भीतर मानसिक द्रव्य पैदा हो जाता है। इसी स्थिति को मनोवैज्ञानिकों ने संघर्ष की स्थिति कहा है।

### ४.७.२ संघर्ष : प्रकार

प्रसिद्ध समाज मनोवैज्ञानिक कर्ट लेविन ने संघर्ष के चार प्रकार निर्दिष्ट किये हैं— १. उपागम-उपागम संघर्ष, २. परिहार-परिहार संघर्ष, ३. उपागम-परिहार संघर्ष, ४. बहु-उपागम-परिहार संघर्ष।

**१. उपागम-उपागम संघर्ष** - यदि सरल शब्दों में अर्थ किया जाए तो उपागम शब्द का अर्थ है—प्राप्त करना। यदि कोई व्यक्ति दो लक्ष्य एक साथ एक ही समय में प्राप्त करना चाहता है तो उस समय उसके भीतर एक विशेष संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्थिति को उपागम-उपागम संघर्ष कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप—यदि कोई छात्र अपने घर से दूर रहकर हॉस्टल में अध्ययन करता है और किसी शाम को उसकी माँ उससे मिलने आने वाली है, उसे माँ को लेने स्टेशन जाना होता है और उसी शाम उसे अपने दोस्त की शादी में भी शामिल होना होता है तो ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से संघर्ष पैदा होगा। इस स्थिति में जो संघर्ष पैदा होता है, उसे मनोवैज्ञानिकों ने उपागम-उपागम संघर्ष कहा है। प्रायः ऐसे संघर्षों का समाधान व्यक्ति आसानी से कर लेता है। वह किसी एक कार्य को थोड़ा पहले अथवा बाद में करके दोनों लक्ष्यों को प्राप्त कर लेता है। अतः इस प्रकार का संघर्ष व्यक्ति के जीवन में किसी तरह का संवेग उत्पन्न नहीं करता।

**२. परिहार-परिहार संघर्ष** - परिहार का अर्थ है—दूर करना, हटाना। जब व्यक्ति के सामने दो ऐसे लक्ष्य होते हैं, जिनमें से वह दोनों को ही प्राप्त करना नहीं चाहता। दोनों से दूर रहना चाहता है परन्तु परिस्थितियों की ऐसी बाध्यता होती है कि उसे किसी एक को स्वीकार करना ही होता है। ऐसी स्थिति में जो संघर्ष पैदा होता है, उसे परिहार-परिहार संघर्ष कहा जाता है। उदाहरण के लिए—कोई महिला घटिया स्तर की साड़ी खरीदना नहीं चाहती परन्तु गरीबी के कारण वह अधिक पैसा भी खर्च करना नहीं चाहती। ऐसी स्थिति में परिहार संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यह संघर्ष व्यक्ति के भीतर संवेगों को पैदा करता है। संघर्ष से अधिक समय तक धिरे रहने पर मानसिक बीमारियाँ भी पैदा होने की संभावना रहती है।

**३. उपागम-परिहार संघर्ष** - जब व्यक्ति किसी लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है परन्तु उसी लक्ष्य के कुछ ऐसे भी पहलू हैं, जिनसे वह दूर रहना चाहता है, तो इससे उसके मन में एक विशेष संघर्ष उत्पन्न होता है, जिसे उपागम परिहार संघर्ष की संज्ञा दी जाती है। जैसे—कोई विद्यार्थी परीक्षा में शत-प्रतिशत अंक प्राप्त करना चाहता है, परन्तु परिश्रम करना नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में उपागम-परिहार संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

**४. बहु-उपागम-परिहार संघर्ष** - इस तरह के संघर्ष में दो या दो से अधिक सकारात्मक एवं नकारात्मक लक्ष्य होते हैं, जिसकी प्राप्ति व्यक्ति एक ही समय में करना चाहता है अर्थात् सकारात्मक पक्षों को प्राप्त करना चाहता है और नकारात्मक पक्षों को दूर हटाना चाहता है। ऐसे समय में उक्त संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए—एक लड़की की मनपसंद युवक से शादी होने वाली है। इस अवस्था में शादी होना और मनपसंद लड़के का होना दोनों लड़की के लक्ष्य के सकारात्मक पक्ष हैं, जिसे वह प्राप्त करना चाहती है। परन्तु इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए शादी करने के पश्चात् उसे स्वयं के शहर को छोड़ना पड़ता है, जहाँ वह नौकरी करती है और होने वाला पति अभी बेरोजगार है तो इस स्थिति में उसे स्वयं की नौकरी को छोड़ना, स्वयं के मनपसन्द शहर को छोड़ना और होने वाले पति की नौकरी का न होना आदि नकारात्मक पक्षों को स्वीकार करना पड़ता है, जिसे वह स्वीकार करना नहीं चाहती। ऐसी स्थिति में बहु-उपागम-परिहार संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

वस्तुतः एक ही लक्ष्य के जब बहुत सारे सकारात्मक पक्ष होते हैं, जिन्हें व्यक्ति पाना चाहता है और उसी लक्ष्य के बहुत सारे नकारात्मक पक्ष, जिन्हें व्यक्ति पाना नहीं चाहता तब उपरोक्त संघर्ष उत्पन्न होकर व्यक्ति के सामने समस्या पैदा कर देता है।

### ४.७.३ संघर्ष : मनोवैज्ञानिक समाधान

आज की ज्वलन्त समस्या है—तनाव। व्यक्ति के पूरे जीवन में हजारों, लाखों बार ऐसा समय आता है, जब वह स्वयं को तनाव में पाता है। तनाव का मूल कारण है—विभिन्न कारणों से मस्तिष्क में संघर्ष का उत्पन्न होना। बहुत बार व्यक्ति बहुत से लक्ष्य निर्धारित करता है, अपने जीवन को सुन्दर ढंग से चलाने के लिए स्वप्न संजोता है और पूरा करने के लिए प्रयास भी करता है, फिर भी वह सफल नहीं होता। उसे बहुत बार उन चीजों को अपनाना होता है, जिन्हें वह दूर हटाना चाहता है और कभी-कभी

उन चीजों से दूर जाना होता है, जिसे वह पाना चाहता है। वह कीमती वस्त्र पहनना चाहता है परन्तु अर्थ की तंगी उसे वैसा करने नहीं देती। वह अपनी मनपसन्द लड़की से शादी करना चाहता है परन्तु माता-पिता उसे स्वीकार नहीं करते। वह कवि, लेखक, वक्ता बनना चाहता है परन्तु घर की परिस्थितियाँ उसे कोई धंधा ढूँढने के लिए मजबूर कर देती हैं। कभी वह अकेला जीना चाहता है परन्तु उसे परिवार के साथ घुल-मिलकर रहना होता है तो कभी वह समाज में जीना चाहता है तो समाज उसे बहिष्कृत कर देता है। इस प्रकार की अनेक समस्याएँ अनेक रूपों में व्यक्ति के भीतर संघर्ष पैदा करती रहती हैं और इस संघर्षात्मक स्थिति से व्यक्ति के अन्दर भारी तनाव पैदा हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति इस तनाव से शीघ्र छुटकारा पाना चाहता है। फलस्वरूप वह जल्द से जल्द इन संघर्षों का समाधान करता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति इन संघर्षों का समाधान दो प्रकार से करता है—

१. संघर्षों का चेतन समाधान, २. संघर्षों का अचेतन समाधान।

**१. संघर्ष : चेतन समाधान** – जीवन में अनेक बार संघर्ष की स्थिति आती है। यह संघर्ष कभी सामान्य होते हैं तो कभी अत्यन्त जटिल। जब संघर्ष सामान्य या साधारण होता है तब व्यक्ति सोच-समझकर एक विशेष निर्णय लेता है और अपने संघर्ष का समाधान करता है। इस प्रकार किये गए संघर्ष के समाधान को चेतन समाधान (conscious resolution) कहा जाता है। जैसे— कोई महिला शादी के समय आभूषण खरीदने जुहारी के दुकान पर जाती है, वहाँ पर अनेक प्रकार के आभूषण देखकर वह असमंजस में पड़ जाती है कि कौन-सा हार खरीदे? कौन-सी अंगूठी खरीदे? परन्तु थोड़ी देर बाद वह मन ही मन विचार-विमर्श कर उन आभूषणों की उपयोगिता, मूल्य, दीर्घजीविता एवं वर्तमान फैशन को ध्यान में रखते हुए कुछ आभूषण खरीद लेती है। इस तरह से किया गया संघर्षों का समाधान चेतन समाधान है। चेतन समाधान करते हुए व्यक्ति निम्न तीन क्रियाओं से गुजरता है—

१. परस्पर विरोधी अभिप्रेरकों के गुण-दोष पर विचार-विमर्श करना।
२. किसी निर्णय पर पहुँचना।
३. दृढ़ निश्चय करना।

इस प्रकार इन क्रियाओं से गुजरकर चेतन स्तर पर व्यक्ति अपने संघर्षों का समाधान करता है।

**२. संघर्ष : अचेतन समाधान**— जब संघर्ष सामान्य या साधारण होता है तब व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्तर पर चेतन की सहायता से ही समाधान कर लेता है। परन्तु कभी-कभी जब संघर्ष जटिल होता है, व्यक्ति चेतन स्तर पर उसका समाधान नहीं कर पाता तब अचेतन स्तर पर समाधान होता है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने इस प्रकार के समाधान पर अधिक बल डाला है। फ्रायड के अनुसार जब-जब व्यक्ति के सामने जटिल समस्याएँ आती हैं और वह उसका समाधान नहीं कर पाता तब अचेतन मन सक्रिय हो जाता है और स्वतः ही समस्याओं का समाधान ढूँढ लिया जाता है। इस प्रकार किये गए समाधान को अचेतन समाधान कहा जाता है। इसमें व्यक्ति को अपनी ओर से सचेत होकर प्रयास नहीं करना पड़ता। अचेतन मन स्वतः समाधान ढूँढता है।

फ्रायड ने अचेतन समाधान के कुछ प्रमुख तरीके निर्दिष्ट किये हैं, जो निम्नलिखित हैं। इन्हें मनोरक्षात्मक प्रतिक्रियाएँ भी कहा जाता है—

**१. प्रक्षेपण**— सामान्यतया प्रक्षेपण शब्द का अर्थ होता है—फेंकना। परन्तु यहाँ पर इसका अर्थ है—थोपना। बहुत बार व्यक्ति अपने दोषों को या अपने द्वारा हुई भूल को दूसरों पर थोप देता है। दूसरों पर अपनी गलती को थोपकर अपने मानसिक संघर्ष को कम करना प्रक्षेपण क्रिया कहलाती है। प्रायः देखा जाता है जब परीक्षा में अंक खराब आते हैं तो विद्यार्थी अपना दोष माता-पिता या शिक्षक पर थोप देता है। इस प्रकार अपनी गलती से छुटकारा पाने का प्रयास करता है। यह प्रक्षेपण विधि से किया गया संघर्षों का अचेतन समाधान है।

**२. दमन**— दमन का अर्थ है—दबाना। व्यक्ति के भीतर अनेक भाव उठते हैं। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह सम्पूर्ण भावों को अभिव्यक्त नहीं कर सकता, जिससे संघर्ष या तनाव पैदा हो जाता है। ऐसे समय में उसके पास एक ही उपाय होता है—अपने गैर सामाजिक भावों को दबाना। यही दमन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा स्वतः ही गैर सामाजिक भाव अचेतन मन में दब जाते हैं और समस्या का समाधान हो जाता है।

**३. क्षतिपूर्ति** — जब किसी क्षेत्र में व्यक्ति असफल होता है तो उसमें हीनता के भाव पैदा हो जाते हैं। ऐसे समय में मानसिक संघर्ष उत्पन्न होता है, जिसका समाधान वह किसी दूसरे क्षेत्र में अच्छा कार्य करके करना चाहता है, जिससे उसके



तनाव का निवारण हो जाता है। इस प्रकार एक क्षेत्र की असफलता की पूर्ति दूसरे क्षेत्र में अच्छा कार्य करके करना क्षतिपूर्ति कहलाता है। यह भी अचेतन मन के द्वारा ढूँढ़ा गया समाधान है।

**४. युक्तिकरण** - जब व्यक्ति अपनी समस्या का समाधान किसी युक्ति के द्वारा करता है, जैसे- कोई लड़का ऐसी लड़की से प्रेम करता है जो उसे प्रेम नहीं करती। इस समस्या से उत्पन्न हुए संघर्ष या तनाव का निवारण लड़का यह कहकर करता है कि "चलो अच्छा ही हुआ वो लड़की इतनी सुन्दर नहीं थी" तो यह युक्तिकरण कहलाता है। यह भी अचेतन मन के द्वारा किया गया समाधान है।

**५. उदात्तीकरण** - उदात्तीकरण का अर्थ है-अपने भावों को उच्चता प्रदान करना। जैसे- कोई लड़का ऐसी लड़की को चाहता है जो उसे नहीं चाहती या कोई व्यक्ति समाज में व्याप्त कुरीतियों से गरीबी से परेशान है, तो उसके भीतर संघर्ष पैदा होना स्वाभाविक है। इस संघर्ष का समाधान करने के लिए वह कविताएँ लिखता है या उनसे संबंधित चित्रकारिता करके अपने भावों को अभिव्यक्त करता है तो उसके भीतर पैदा हुए संघर्ष का समाधान हो जाता है। इस प्रकार किया गया समाधान उदात्तीकरण कहलाता है।

**६. रूपान्तरण** - रूपान्तरण का अर्थ है-बदलना। बहुत बार व्यक्ति अपने मानसिक संघर्षों को शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जैसे- कोई व्यक्ति किसी से ईर्ष्या करता है, क्योंकि भाई को माँ का प्यार ज्यादा मिलता है। परन्तु वह यह भी जानता है कि ईर्ष्या करना अच्छा नहीं है। इससे मानसिक संघर्ष पैदा होता है और यह संघर्ष शारीरिक बीमारी खुजली आदि के रूप में प्रकट हो जाता है। परिणामस्वरूप माँ का ध्यान उसकी ओर भी आकर्षित हो जाता है। इससे उसकी समस्या का समाधान हो जाता है। इस प्रकार मानसिक समस्याओं को बदलकर शरीर के द्वारा प्रकट करना रूपान्तरण है। यह मानसिक संघर्षों को समाहित करने का अचेतन मन के द्वारा समाधान है। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार अन्य और भी तरीके हैं, जिन्हें अपनाकर अचेतन स्तर से व्यक्ति अपनी समस्याओं का समाधान करता है।

## ४.८ संघर्ष समाधान में जीवन विज्ञान की भूमिका

एक व्यक्ति के जीवन में अनेक बार मानसिक संघर्षों के कारण तनाव पैदा हो जाता है। यह तनाव जब अत्यधिक होता है या बार-बार पैदा होता है तब व्यक्ति को अनेक प्रकार से हानि या क्षति पहुँचाता है। इन तनावों के कारण व्यक्ति बहुत बार बड़ी बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है तो कभी पागलपन का शिकार हो जाता है। यद्यपि वह अपने जीवन में जानते हुए या अनजान में चेतन या अचेतन स्तर पर इन तनावों का समाधान करता है। परन्तु इस प्रकार से किये गये समाधान पूर्ण रूप से सही हो, जरूरी नहीं। फ्रायड ने जिस अचेतन मन के स्तर से समाधान करने की बात कही है, वह पूर्णतया सही है परन्तु इस प्रकार से किया गया समाधान व्यक्ति के लिए बहुत अच्छे परिणामों वाला नहीं होता।

अपनी गलती को दूसरों पर प्रक्षेपण करना, अपने अनैतिक भावों का दमन करना, एक से प्रेम न मिलने पर दूसरों के पास जाकर या किसी दूसरे माध्यम से उसकी क्षतिपूर्ति करना, अपने मानसिक विकारों को रूपान्तरण कर शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त करना, किसी क्षेत्र में असफल हो जाने पर 'युक्ति' के द्वारा अपने आपको समझा लेना आदि उपाय कुछ समय के लिए ठीक हो सकते हैं। इनके द्वारा अपने आपको कुछ समय के लिए तनाव एवं मानसिक संघर्ष से उभारा जा सकता है। परन्तु निमित्त मिलने पर यह समस्याएँ वापस खड़ी हो जाती है। कुछ समाधान शरीर को बीमारियों से ग्रसित कर देते हैं। व्यक्ति इस प्रकार से किये गये समाधान से कुण्ठित हो जाता है, पूर्ण रूप से खुश नहीं रह सकता। इसलिए इन समस्याओं के समाधान के लिए कुछ सटीक एवं स्वस्थ समाधानों की अपेक्षा है। इस सन्दर्भ में जीवन विज्ञान के अन्तर्गत किये जाने वाले प्रेक्षाध्यान के प्रयोग अत्यन्त उपयोगी हैं।

### संघर्षों का मुख्य कारण

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संघर्ष पैदा करने के पीछे मुख्य हाथ रहता है-अभिप्रेरकों का। भूख, प्यास, काम, नींद, दर्द, परिहार आदि जन्मजात अभिप्रेरक हो या फिर उपलब्धि, संबंधन या अनुमोदन आदि सामाजिक अभिप्रेरक हों। ये व्यक्ति को किसी निश्चित लक्ष्य के लिए प्रेरित करते हैं और जब व्यक्ति की विविध आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों के कारण लक्ष्य प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है तब व्यक्ति के भीतर संघर्ष एवं संघर्ष के पश्चात् तनाव पैदा करते हैं। अतः संघर्ष निवारण के लिए सबसे

पहली आवश्यकता है—अभिप्रेरकों का संतुलन। अभिप्रेरकों की तीव्रता ही समस्या पैदा करती है। भूख, प्यास आदि अभिप्रेरक, जो जन्मजात हैं, पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकते परन्तु यह व्यक्ति पर हावी न हो। व्यक्ति का इन पर नियंत्रण रहे। सामाजिक अभिप्रेरक उपलब्धि, अनुमोदन आदि भी पूर्णतया गलत नहीं हैं। इनके होने पर ही व्यक्ति कुछ नई उपलब्धियाँ कर सकता है परन्तु यह अपनी सीमा से अधिक ऊपर न जाए। यह व्यक्ति पर शासन करने न लगे। इतना जरूरी है। अभिप्रेरकों में संतुलन बना रहे। व्यक्ति का इन पर शासन बना रहे इसके लिए प्रेक्षाध्यान अत्यन्त आवश्यक है।

### प्रेक्षाध्यान : संघर्ष समाधान

संघर्ष समाधान या दूसरे शब्दों में तनाव मुक्ति के लिए व्यक्ति सबसे पहले अपने जीवन का अध्ययन करे। वह यह पता लगाने का प्रयास करे कि उसके भीतर जो मानसिक संघर्ष पैदा हुआ है। उसके पीछे कौन-सा अभिप्रेरण काम कर रहा है। फिर उसी प्रकार का प्रयोग करे। नीचे विभिन्न अभिप्रेरकों को नियंत्रण एवं संतुलन के लिए प्रेक्षाध्यान के विविध प्रयोगों की तालिका निर्दिष्ट की गई हैं—

क्र.सं.	जन्मजात अभिप्रेरण	प्रेक्षाध्यान के प्रयोग
०१.	भूख	सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा
०२.	प्यास	शीतली, शीतकारी प्राणायाम
०३.	काम	विशुद्धि केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान
०४.	नींद	दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान
०५.	दर्द परिहार	शरीर प्रेक्षा

क्र.सं.	सामाजिक अभिप्रेरण	प्रेक्षाध्यान के प्रयोग
०१.	उपलब्धि	अनासक्ति एवं अनित्य अनुप्रेक्षा
०२.	संबंधन	एकत्व की अनुप्रेक्षा
०३.	सत्ता	मृदुता की अनुप्रेक्षा
०४.	आक्रमणशीलता	ज्योति केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान
०५.	अनुमोदन	मैत्री की अनुप्रेक्षा

इस प्रकार प्रेक्षाध्यान के विविध प्रयोगों को लम्बे समय तक करने पर व्यक्ति अपने अभिप्रेरकों को संतुलित रख सकता है। इन अभिप्रेरकों का संतुलन ही व्यक्तित्व का संतुलन है। भूख, प्यास, काम आदि ऐसे अभिप्रेरक हैं, जो व्यक्ति को उग्र, असंतुलित, आवेश मुक्त कर सकते हैं। परन्तु प्रेक्षाध्यान के उपरोक्त प्रयोगों की सहायता से व्यक्ति इनको नियंत्रित कर सकता है।

उपलब्धि, संबंधन, सत्ता आदि की आवश्यकताएँ जरूरी हैं परन्तु ये अनियंत्रित हो जाए तो व्यक्तित्व असंतुलित हो जाता है। इनको भी प्रेक्षाध्यान के उपरोक्त प्रयोगों को अच्छी तरह समझ कर करने से नियंत्रित किया जा सकता है।

### बोध-प्रश्न - ३

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. अभिप्रेरण के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को समझाइये।
२. अभिप्रेरण को परिभाषित करते हुए उसके प्रकारों की चर्चा करें।
३. संघर्ष से आप क्या समझते हैं? संघर्ष उत्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए संघर्ष के प्रकारों को विश्लेषित करें।
४. संघर्ष के समाधान के लिए एक व्यक्ति किन-किन प्रक्रियाओं से गुजरता है। मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझाइये।
५. संघर्ष को समझाते हुए संघर्ष समाधान हेतु जीवन विज्ञान में कौन से उपाय निर्दिष्ट हैं? स्पष्ट करें।

## इकाई-५ व्यक्तित्व विकास : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार

### इकाई की रूपरेखा

- ५.० उद्देश्य
- ५.१ प्रस्तावना
- ५.२ व्यक्तित्व विकास : मनोवैज्ञानिक आधार
  - ५.२.१ व्यक्तित्व : अर्थ
  - ५.२.२ व्यक्तित्व : प्रकार
  - ५.२.३ वैयक्तिक भिन्नताओं के कारक
- ५.३ व्यक्तित्व विकास : आध्यात्मिक आधार
  - ५.३.१ कर्म : परिभाषा
  - ५.३.२ कर्म : प्रकार
- ५.४ कर्म बन्धन के कारण
- ५.५ कर्म शुद्धि एवं व्यक्तित्व विकास
- ५.६ प्राण : स्वरूप
  - ५.६.१ प्राण : अर्थ
  - ५.६.२ प्राण : प्रकार
  - ५.६.३ प्राण शुद्धि की प्रक्रिया
- ५.७ समाधि : स्वरूप
  - ५.७.१ समाधि : अर्थ
  - ५.७.२ समाधि : प्रकार
  - ५.७.३ समाधि के विघ्न
  - ५.७.४ समाधि प्राप्ति के उपाय

### ५.० उद्देश्य

‘व्यक्तित्व विकास : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार’ इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- \* व्यक्तित्व एवं व्यक्तित्व के प्रकारों को मनोविज्ञान के सन्दर्भ में समझ सकेंगे।
- \* वैयक्तिक भिन्नताओं के विविध कारणों को मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे।
- \* व्यक्तित्व विकास में कर्म की भूमिका को जान पायेंगे।
- \* कर्म के विविध प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।
- \* कर्म बन्धन के विभिन्न कारणों को समझ सकेंगे।
- \* कर्म शुद्धि की प्रक्रिया को जान पायेंगे।
- \* प्राण एवं प्राण शुद्धि की प्रक्रियाओं से परिचित हो सकेंगे।
- \* समाधि के स्वरूप एवं प्राप्ति के उपायों को जान सकेंगे।

### ५.१ प्रस्तावना

जीवन विज्ञान में स्वस्थ जीवन के लिए जितना महत्त्व शरीर, इन्द्रिय, मन, भाव आदि घटकों को दिया गया है, उतना ही महत्त्व व्यक्तित्व को भी दिया गया है। स्वस्थ जीवन की प्रमुख आवश्यकता है – स्वस्थ एवं संतुलित व्यक्तित्व, ओजस्वी एवं तेजस्वी व्यक्तित्व। हमारा शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियाँ भी नियंत्रित हैं, भाव संतुलित हैं, संवेगों पर भी नियंत्रण है परन्तु यदि व्यक्तित्व

तेजस्वी नहीं है, दूसरे को अपनी ओर आकर्षित कर ले ऐसा नहीं है तो यह भी मनुष्य जीवन की एक बहुत बड़ी कमी है, ऐसा कहना असंगत नहीं होगा। इसी सच्चाई को ध्यान में रखते हुए जीवन विज्ञान में व्यक्तित्व विकास की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। प्रस्तुत इकाई में 'व्यक्तित्व विकास' क्या है? वैयक्तिक भिन्नताओं के पीछे कौन-कौन से कारण हैं? तथा इसके विकास हेतु किन-किन साधनों को अपनाया जा सकता है? इन सब बिन्दुओं की चर्चा मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में की जाएगी।

## ५.२ व्यक्तित्व विकास : मनोवैज्ञानिक आधार

### ५.२.१ व्यक्तित्व : अर्थ

व्यक्तित्व का अंग्रेजी अनुवाद 'Personality' है, जो लैटिन शब्द 'Persona' से बना है। 'परसोना' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'नकाब' या 'मुखौटा' होता है, जिसे नायक और नायिका नाटक करते समय अपने चेहरे पर लगाते हैं। इस शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए व्यक्तित्व को बाहरी वेशभूषा तथा दिखावे के आधार पर परिभाषित किया गया। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व से तात्पर्य वह जो दूसरों को दिखाई देता है, उससे है। जिस व्यक्ति का बाहरी दिखावा भड़कीला एवं आकर्षक होता था, उसे अच्छा व्यक्तित्व समझा जाता था। लेकिन इस शाब्दिक अर्थ की लोकप्रियता तुरन्त समाप्त हो गई और बाद में व्यक्तित्व को विभिन्न सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों से मनोवैज्ञानिकों द्वारा परिभाषित किया गया।

\* वुडवर्थ एवं मारक्विंस के अनुसार, "व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यवहार ही व्यक्तित्व कहलाता है।"

\* डेशियल के अनुसार, "व्यक्तित्व व्यक्ति के संग्रहित व्यवहार, विशेषतः जैसा उसके साथियों द्वारा संगत रूप से बतलाया जाता है, की एक सम्पूर्ण तस्वीर होता है।"

\* गिलफोर्ड के अनुसार, "व्यक्तित्व शीलगुणों का एक समन्वित पैटर्न है।"

\* समग्र रूप से कहा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष गुण या विशेषताएँ होती हैं। इन्हीं गुणों एवं विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होता है। व्यक्ति के इन गुणों का संगठन ही व्यक्तित्व कहलाता है।

Oxford अंग्रेजी शब्दकोश में 'Personality' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया – "The various aspect of a person's character that combine to make different from other people."

वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ विशेष गुण या विशेषताएँ होती हैं, जो दूसरे व्यक्ति में नहीं होती। इन्हीं गुणों के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से भिन्न होता है। इन दूसरों से भिन्न गुण एवं विशेषताओं का संगठन ही व्यक्ति का व्यक्तित्व कहलाता है। ये गुण बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के होते हैं। बाह्य गुण हो चाहे आन्तरिक, जो गुण व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से भिन्न करते हैं, वे व्यक्तित्व के निर्धारक बन जाते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति के आचार-विचार, व्यवहार, क्रिया और गतिविधियों से व्यक्ति का व्यक्तित्व झलकता है।

### ५.२.२ व्यक्तित्व के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को दो भागों में विभाजित किया – सामान्य व्यक्तित्व और असामान्य व्यक्तित्व। सामान्य अर्थात् स्वस्थ व्यक्तित्व। असामान्य अर्थात् अस्वस्थ व्यक्तित्व। स्वस्थ व्यक्तित्व ही विकसित व्यक्तित्व है। मनोचिकित्सकों के अनुसार एक स्वस्थ व्यक्ति में निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं –

#### ५.२.२.१ संतुलित व्यक्तित्व

१. पर्याप्त सुरक्षा की भावना – एक 'स्वस्थ' व्यक्ति में यह दृढ़ भावना रहती है कि उसका वर्तमान जीवन तथा भावी जीवन सुरक्षित और सुनिश्चित है।

२. पर्याप्त आत्म-मूल्यांकन – एक स्वस्थ व्यक्ति अपने आत्म-सम्मान व स्वाभिमान के सन्दर्भ में अपने आवेगों, आवश्यकताओं व आकांक्षाओं को नियमित व संतुलित करता है। उसकी इच्छाएँ सामाजिक मर्यादा की परिधि के अन्तर्गत ही रहती हैं।

३. **पर्याप्त स्फूर्ति व संवेगात्मक अभिव्यक्ति**—एक संतुलित व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिकता के आधार पर संतोषप्रद, सुखद व सामाजिक संबंधों को बनाये रखने की योग्यता रहती है।

४. **जीवन की वास्तविकता के प्रति सजग**—स्वस्थ व्यक्ति जीवन संघर्ष में आने वाली कठिनाइयों, विपत्तियों, विफलताओं व कष्टों का साहसपूर्ण व धैर्यपूर्ण ढंग से सामना करते हुए देखा जाता है। वह इन सब स्थितियों से घबराता नहीं, अपितु इन्हें जीवन का एक अभिन्न अंग ही मानता है।

५. **सीमित शारीरिक इच्छाएँ**—शारीरिक इच्छाएँ कभी सामाजिक मर्यादा की परिधि का उल्लंघन नहीं करती।

६. **पर्याप्त आत्म-ज्ञान**—एक स्वस्थ व्यक्ति अपनी इच्छाओं व लक्ष्यों को अपनी शारीरिक व मानसिक क्षमताओं तथा योग्यताओं के आधार पर सीमाबद्ध करने का निरन्तर प्रयास करता रहता है।

७. **अतीत के अनुभव से लाभ**—‘स्वस्थ’ व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों से लाभ उठाता है तथा उनके आधार पर अपने भावी जीवन को सुनियोजित करता है।

८. **बाह्यगामी उन्मुखता**—एक संतुलित व्यक्ति अत्यधिक आत्म-केन्द्रित न होकर अपने समूह व अन्य समूहों के लोगों की ओर भी स्वतः ही उन्मुख रहता है। वह समूह व समाज की अपेक्षाओं को किसी बाह्य दबाव के कारण नहीं, बल्कि स्वतः ही श्रद्धाभाव से उनका परिपालन करता है।

९. **समूह-संस्कृति से सापेक्षित मुक्तता**—एक सामान्य व्यक्ति अपने समूह की सांस्कृतिक परम्पराओं व धारणाओं के प्रति पूर्णरूपेण अपने व्यक्तित्व का आत्म-समर्पण नहीं कर देता बल्कि अपने वैयक्तिक व मौलिक विचारों को भी यथाशक्ति अभिव्यक्त करता है तथा इस उपक्रम में सामने आने वाले मतभेदों को सहर्ष स्वीकार भी कर लेता है।

जिस प्रकार सामान्य व्यक्तित्व को स्वस्थ, संतुलित एवं समायोजित व्यक्तित्व कहा जाता है, ठीक वैसे ही एक असामान्य व्यक्तित्व को अस्वस्थ एवं असंतुलित व्यक्तित्व कहा जाता है। एक असंतुलित अर्थात् अविकसित व्यक्तित्व में मनोवैज्ञानिकों के अनुसार निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं—

#### ५.२.२.२ असंतुलित व्यक्ति

१. **अनुरूपता का अभाव**—असंतुलित व्यक्ति प्रचलित सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, मर्यादाओं, मूल्यों और आदर्शों को सही न मानकर अधिकांशतः अपनी स्वयं की व्यक्तिगत आचार-संहिता को ही ठीक समझता है।

२. **असुरक्षा की भावना**—जीवन की सामान्य स्थितियों, कठिनाइयों एवं दायित्व के परिपालन के लिए आवश्यक आत्म-विश्वास नहीं होता। उसके अचेतन मन में असुरक्षा की भावना निरन्तर बनी रहती है।

३. **दुश्चिन्ता**—प्रायः दुखद घटनाओं, घोर निराशाओं एवं कुण्ठाओं से घिरा हुआ रहता है। निराशावादिता, साहसहीनता व दुश्चिन्ता उसके अचेतन मन में एक प्रकार से घर कर लेती हैं।

४. **व्यक्तिगत अपरिपक्वता**—उसका व्यवहार साधारणतः उसकी शिक्षा, आयु व सामाजिक स्थिति के अनुकूल न होकर कुछ निम्न स्तर का रहता है। उसकी संवेगात्मक अनुभूति व अभिव्यक्ति उद्दीपक स्थिति की उपयुक्त सीमाओं में रहकर प्रायः असंतुलित ही रहती है। उसकी क्रियाएँ क्षणिक आवेगों से प्रभावित रहती हैं।

५. **बौद्धिक असमर्थता**—बौद्धिक न्यूनता के कारण प्रायः हीनता की ग्रंथि से पीड़ित रहता है।

६. **वास्तविकता से पलायन**—वह जीवन के सामान्य संघर्षों, दैनिक कठिनाइयों, दुःखद विफलताओं व आवश्यक दायित्वों से मुक्त रहने का प्रयास करता है।

७. **आत्म-तिरस्कार**—ऐसे व्यक्ति प्रायः अपने आपको निजी मापदण्ड से अपूर्ण व अपर्याप्त समझते हैं। कभी-कभी अपने आपको घृणित व पतित भी समझते हैं।

८. **मानसिक शक्ति का हास**—इनकी शारीरिक व मानसिक शक्ति अपने साधारण कार्य, तुच्छ इच्छाओं, अनावश्यक उलझनों तथा निरर्थक संघर्षों में ही नष्ट होती है।

इस प्रकार असंतुलित व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रायः अस्त-व्यस्त ही रहता है।



### ५.२.३ वैयक्तिक भिन्नताओं के कारक

इस विश्व में विभिन्नता है। कोई सन्तुलित है तो कोई असन्तुलित है। प्रत्येक व्यक्ति का आचरण और व्यवहार दूसरे से भिन्न है। कोई सुखी है, कोई दुःखी है। कोई काला है तो कोई गोरा है। किसी का गला सुरीला है तो कोई गा नहीं सकता। कोई अन्धा है तो कोई चर्म रोग से पीड़ित है। यह भिन्नता केवल मनुष्य में ही नहीं पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। तात्पर्य यही है कि पूरा विश्व विविधताओं से भरा हुआ है। विश्व वैचित्र्य के कारणों की खोज करते हुए विभिन्न विचारकों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य-मनुष्य में दिखाई देने वाली इन भिन्नताओं का सूक्ष्म अध्ययन किया तथा इन भिन्नताओं के कारण रूप में विविध कारकों को प्रस्तुत किया - १. आनुवंशिकता २. शारीरिक गठन व स्वास्थ्य ३. शारीरिक रसायन ४. अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ ५. पर्यावरण ६. सामाजिक कारक ७. सांस्कृतिक कारक।

**१. आनुवंशिक-** आनुवंशिक गुणों के अन्तर्गत वे गुण आते हैं, जिन्हें व्यक्ति अपने माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, परदादा-परदादी आदि पुरखों से प्राप्त करता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व पर उसके पुरखों के गुणों का बहुत प्रभाव पड़ता है। उसका रंग-रूप या शारीरिक गठन, रहन-सहन, चाल-ढाल, बुद्धि एवं मानसिक क्षमताएँ उसके पूर्वजों के अनुरूप हो सकती हैं। इतना ही नहीं, बहुत बार व्यक्ति को ऐसी बीमारी भी हो जाती है, जो उसके पूर्वजों को थी। अतः मनोवैज्ञानिकों के विचारों से यह तो निश्चित रूप से सत्य है कि व्यक्तित्व विकास का एक बहुत बड़ा आधार है-आनुवंशिकता। जिस प्रकार की क्षमताएँ, योग्यताएँ व्यक्ति के पूर्वजों में होती हैं, उसी के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

**२. शारीरिक गठन और स्वास्थ्य-** प्रत्येक व्यक्ति का शारीरिक गठन भिन्न होता है। कोई रूपवान, सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट होता है तो कोई दिखने में भद्दा व बेडौल आकृति वाला होता है। सुन्दर शारीरिक गठन को देखकर सभी व्यक्ति उसकी प्रशंसा करते हैं। इससे उस व्यक्ति के मानसिक पहलू पर प्रशंसा का प्रभाव ऐसा पड़ता है कि वह दूसरों की अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ समझने लगता है और उसमें आत्मविश्वास, स्वावलम्बन के भाव पैदा हो जाते हैं, जबकि जिनका शारीरिक गठन बेडौल होता है, उन्हें लोग पसन्द नहीं करते, उनकी ओर ध्यान नहीं देते। परिणामस्वरूप वे हीनभावना से ग्रस्त हो जाते हैं। उनके व्यक्तित्व में आत्मविश्वास की कमी, परनिर्भरता की मात्रा अधिक हो जाती है।

व्यक्तित्व विकास पर स्वास्थ्य का भी असर पड़ता है। जो व्यक्ति शारीरिक रूप से स्वस्थ होते हैं, उनका सामाजिक जीवन प्रायः अच्छा होता है। स्वस्थ व्यक्ति अपने कार्य को उत्साहपूर्वक सफलता से समय पर पूरा कर लेते हैं परन्तु शारीरिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति मानसिक रूप से भी अस्वस्थ हो जाते हैं परिणामस्वरूप वे किसी भी कार्य को सही समय पर सही ढंग से कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं। प्रायः उनका व्यक्तित्व विघटित रूप में ही सामने आता है।

**३. शारीरिक रसायन -** मनोवैज्ञानिक हिपोक्रेटीज ने शारीरिक रसायनों के चार प्रकार बताये हैं-रक्त, पित्त, कफ और तिल्ली द्रव्य। ये चारों प्रकार के रसायन भी व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। हिपोक्रेटीज के अनुसार जिन व्यक्तियों में रक्त की अधिकता होती है, वे उत्साही एवं आशावादी होते हैं। जिनमें पित्त की प्रधानता होती है, वे चिड़चिड़े या कोपशील प्रकृति के होते हैं, परन्तु इनकी मस्तिष्कीय क्षमता अत्यधिक होती है। जिन व्यक्तियों में कफ अथवा श्लेष्म की प्रधानता होती है, वे शान्त तथा आलसी होते हैं। जिनमें तिल्ली द्रव्य की प्रधानता होती है, वे व्यक्ति उदास रहने वाले होते हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक रसायन को भी व्यक्तित्व विकास के महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में स्वीकार किया है।

**४. अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ -** प्रत्येक मनुष्य के शरीर में निम्नलिखित आठ अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ पायी जाती हैं- १. पीयूष ग्रंथि, २. पीनियल ग्रंथि, ३. थायरायड ग्रंथि, ४. पेराथाइरायड ग्रंथि, ५. थाइमस ग्रंथि, ६. एडि-नल ग्रंथि, ७. पेन्क्रियाज ग्रंथि, ८. गोनाड्स। इन ग्रंथियों से निकलने वाले स्राव व्यक्तित्व विकास के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन स्रावों की कमी या अधिकता दोनों ही व्यक्तित्व के संतुलित विकास में बाधक बनते हैं। उदाहरण के लिए पीयूष ग्रंथि से स्रावित होने वाला स्राव सामान्य से कम मात्रा में हो तो व्यक्ति बौना रह जाता है। थायराइड आयोडीन की मात्रा को नियंत्रित न करे तो व्यक्ति के शरीर व मस्तिष्क का उचित विकास नहीं होता। शरीर दुर्बल होता है। इस प्रकार प्रत्येक ग्रंथि की व्यक्तित्व विकास में अपनी अहम् भूमिका होती है।

**५. पर्यावरण संबंधी कारक -** मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण में रहता है। इसीलिए उसके जीवन तथा व्यक्तित्व पर पर्यावरण का भी सीधा प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति जिस देश व स्थान में रहता है, वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा जलवायु का प्रभाव उसकी शारीरिक बनावट तथा मानसिक स्थितियों पर भी पड़ता है। उदाहरण स्वरूप

ठण्डी जलवायु में रहने वाले व्यक्तियों का रंग गोरा होता है जबकि गर्म जलवायु में रहने वाले लोग अधिकांशतः सांवले रंग के होते हैं। इसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों का भी व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है, जैसे—पहाड़ी लोगों का शारीरिक गठन भिन्न होता है। यदि भौगोलिक परिस्थितियों एवं जलवायु को बदल दिया जाए तो व्यक्ति के व्यक्तित्व में भी परिवर्तन आ जाता है।

**६. सामाजिक कारक** – व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है, समाज में बड़ा होता है। अतः उसकी आदतों एवं व्यवहार पर समाज का गहरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जिस समाज में रहता है, उस समाज के लोगों के आचरण को अपनाता है। जाति, वर्ण तथा व्यवसाय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की समाज में स्थिति अलग-अलग होती है। व्यक्ति जिस परिवार में रहता है, उस परिवार की सामाजिक स्थिति उसके व्यक्तित्व पर भी प्रभाव डालती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समाज में रहने वाले समाज सुधारक, समाज सेवी, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा समाज विकास के लिए कार्य करने वालों का भी प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है तो समाज विरोधी कार्य करने वाले जैसे—जेबकतरे, चोर, शराबखोर तथा वेश्यावृत्ति करने वाले सामाजिक घटकों का भी प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है। इनके अलावा विद्यालय, शिक्षक, सहपाठी तथा विद्यालय में दी जाने वाली शिक्षा का भी गहन प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है।

**७. सांस्कृतिक कारक** मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्तित्व पर संस्कृति का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का जिस संस्कृति में जन्म होता है, पालन-पोषण होता है, उसी के अनुरूप उसका आचरण होता है। भिन्न-भिन्न संस्कृति वाले समाज में रहन-सहन, रीति-रिवाज, धर्म, कला, मूल्यों और परम्पराओं में भिन्नता देखी जाती है और उसी के अनुरूप उन सदस्यों में भी भिन्नता होती है, जो उन समाज में रहते हैं।

### ५.३ व्यक्तित्व विकास : आध्यात्मिक आधार

यद्यपि मनोवैज्ञानिकों ने आनुवांशिकता आदि विभिन्न कारकों को व्यक्तित्व के आधार रूप में स्वीकार किया परन्तु अध्यात्माचार्यों ने इन कारकों के अलावा एक ओर कारक को स्वीकार किया है, वो है—कर्म। स्वकृत पूर्वजन्म के कर्म इन सभी कारणों का मूल कारण है। एक पिता के दो पुत्र हैं—एक चर्म रोग से पीड़ित है और एक सामान्य। इसके पीछे एक कारण आनुवांशिकता है परन्तु इस आनुवांशिकता के पीछे भी मुख्य कारण रूप में कर्म ही कार्य कर रहा है। सामाजिक वातावरण, पर्यावरण, सांस्कृतिक कारक आदि व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, फिर भी इन सबके मूल में कर्म ही छिपा हुआ है। स्वकृत कर्मों के कारण ही व्यक्ति को वैसा पर्यावरण तथा सामाजिक वातावरण मिलता है। भगवान् महावीर ने कहा—“**अप्या कत्ता विकत्ताय दुहाण य सुहाण य**” सुख-दुःख की कर्ता यह आत्मा ही है अर्थात् व्यक्ति लम्बा, चौड़ा, नाटा, काना, बेहरा जैसा भी होता है अपने जीवन काल में सुख या दुःख जो भी उसे प्राप्त होते हैं, उसका मूल कारण कर्म ही है। स्वयं द्वारा संचित अच्छे कर्म अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करने में हेतुभूत बनते हैं तो स्वकृत बुरे कर्म असंतुलित व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। अतः स्वस्थ एवं संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए कर्म को समझना तथा कर्मशुद्धि के उपायों को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

#### ५.३.१ कर्म : परिभाषा

जैन सिद्धान्त दीपिका में कर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया—“**आत्मप्रवृत्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्मः**”।

शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं, आत्मा द्वारा गृहीत उन पुद्गलों का नाम है—कर्म।

वस्तुतः कर्म पुद्गल है। कर्म वर्गणाएँ वातावरण में बिखरी हुई रहती हैं। ये वर्गणाएँ सूक्ष्म होती हैं। इसीलिए आँखों का विषय नहीं बनती। जब आत्मा राग या द्वेष के वशीभूत होकर हलन-चलन करती है तब इस हलन-चलन के कारण कर्म परमाणु आत्मा के साथ चिपक जाते हैं और समय आने पर फल प्रदान करते हैं।

कर्म आकर्षण की इस प्रक्रिया को हम एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं। यदि एक चौड़ी टेबल पर लोहे के छोटे-छोटे कण बिखेर दिये जाएँ और पास में कुछ दूरी पर एक चुम्बक का टुकड़ा रख दिया जाए तो कुछ भी नहीं होगा। दोनों अपने-अपने स्थान पर पड़े रहेंगे। परन्तु यदि चुम्बक को इधर-उधर हिलाना शुरू किया जाए तो सारे लोह के कण चुम्बक के साथ चिपक जाएँगे। ठीक इसी प्रकार जब आत्मा शान्त या स्थिर अवस्था में होती है, कर्म पुद्गल कुछ नहीं करते। लेकिन ज्योंही पुराने कर्मों के वशीभूत हो आत्मा हलन-चलन करती है, कर्म-पुद्गल उसके साथ चिपक जाते हैं। किसी भी आत्मा की प्रवृत्ति दो रूपों में

होती है—अच्छे अर्थात् शुभ रूप में या बुरे अर्थात् अशुभ रूप में। दोनों ही प्रकार की प्रवृत्ति कर्मों को आकर्षित करती है। परन्तु यहां समझने की बात यह है कि अच्छी प्रवृत्ति अच्छे कर्मों को और बुरी प्रवृत्ति बुरे कर्मों को आकर्षित करती है।

यद्यपि आत्मा के साथ कर्म परमाणु का संयोग अनादि काल से है। कर्म परमाणु सबसे पहले आत्मा के साथ कब चिपके ऐसा कहना असंभव है परन्तु इतना निश्चित है कि कर्म परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। जब आत्मा शुभ प्रवृत्ति करती है तो पुराने कर्म टूटते हैं, झड़ जाते हैं। वहीं जब अशुभ अर्थात् राग-द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि नकारात्मक भावों से वशीभूत होकर प्रवृत्ति करती है तो पुनः नये कर्म चिपक जाते हैं। इस प्रकार यह क्रिया बराबर चालू रहती है। कर्म जब तक आत्मा के साथ चिपके रहते हैं तब तक प्राणी को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्मों के बन्धन से छूटते ही आत्मा मुक्त हो जाती है। अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है।

### ५.३.२ कर्म : प्रकार

वैयक्तिक भिन्नताओं का मूल कारण है—कर्म। जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्मों का उल्लेख मिलता है—

१. ज्ञानावरणीय कर्म, २. दर्शनावरणीय कर्म, ३. वेदनीय कर्म, ४. मोहनीय कर्म, ५. आयुष्य कर्म, ६. नाम कर्म, ७. गोत्र कर्म, ८. अन्तराय कर्म।

ये आठ कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, जिनको हम विस्तार से समझ सकते हैं।

**१. ज्ञानावरणीय कर्म—** हम व्यवहार जगत् में बहुत बार देखते हैं कि एक बालक दिन-रात पढ़ता है, मेहनत करता है परन्तु परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होता, वहीं दूसरा बालक कम पढ़ने पर भी या एक बार सुनने पर ही सब कुछ ग्रहण कर लेता है, अच्छे अंक लाता है। एक व्यक्ति किसी भी समस्या का अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से तत्काल उत्तर दे देता है तो एक रट-रटकर भी सही उत्तर नहीं दे सकता। इस ज्ञान की भिन्नता का मुख्य कारण है—ज्ञानावरणीय कर्म। यह कर्म व्यक्ति के ज्ञान को आवृत्त करता है। संसार में जितनी आत्माएँ हैं, सबमें अनन्त ज्ञान है। विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि हमारी मस्तिष्कीय क्षमता का दो प्रतिशत भी हम उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। इस दो प्रतिशत के उपयोग में भी भिन्नता है। कोई १% तो कोई १.३०% तो कोई इससे ज्यादा तो कोई इससे कम उपयोग कर पाता है। अध्यात्म शास्त्रों के अनुसार इसका मुख्य कारण है—ज्ञानावरणीय कर्म। यह प्राणी की ज्ञान शक्ति को ढक देता है। अतः जितना प्रतिशत ज्ञान अनावृत्त होता है, प्राणी को उतना ही ज्ञान होता है। जैनागमों में इस कर्म की तुलना आँख की पट्टी के समान की गई है। जिस प्रकार आँख के आगे पट्टी बांध देने पर कुछ दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार इस कर्म के आवरण से जीव को ज्ञान नहीं होता है।

**२. दर्शनावरणीय कर्म** – उक्त कर्म भी ज्ञानावरणीय कर्म की तरह आत्मा की दर्शन शक्ति में बाधा डालता है। दर्शन ज्ञान से पूर्व की अवस्था है। आत्मा का दूसरा गुण है—केवल दर्शन। आत्मा में इतनी शक्ति है कि वह संसार के समस्त पदार्थ को देख सकती है। परन्तु यह कर्म आत्मा के इस गुण को प्रकट नहीं होने देता। जैनदर्शन में इस कर्म की तुलना प्रतिहारी से की गई है। जैसे—प्रतिहारी राजा के दर्शन में रुकावट डालता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म देखने में बाधा डालता है।

**३. वेदनीय कर्म** – वेदन का सीधा-सा अर्थ है—अनुभव करना। इस जगत् का हर प्राणी सुख या दुःख इन दो चीजों का अनुभव करता है। आकस्मिक दुर्घटनाएँ, रोग, सन्तान का कुपात्र होना, सन्तान का न होना, अर्थ का अभाव आदि अनेक समस्याएँ व्यक्ति को दुःखी बनाती हैं। इन समस्याओं का न होना व्यक्ति को सुख का अनुभव कराती है। इस प्रकार सभी प्राणी किसी-न-किसी रूप में अपने पूरे जीवन में सुख-दुःख का अनुभव करते रहते हैं। इन सुख और दुःख में निमित्तभूत बनने वाला है—वेदनीय कर्म। वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—साता वेदनीय और असाता वेदनीय। जब साता वेदनीय कर्म का उदय होता है तो प्राणी सुख का और असाता वेदनीय कर्म के उदय से प्राणी दुःख का अनुभव करता है।

**४. मोहनीय कर्म** – जैन शास्त्रों में मोह का अर्थ केवल राग नहीं किया गया है। अपितु क्रोध, मान, माया, लोभ भी इसी के अन्तर्गत लिये गए हैं। यहाँ पर मोह का विस्तृत अर्थ है। क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चारों ही इस कर्म के उद्दीप्त होने पर उभरते हैं और चेतना को प्रभावित करते हैं। जब इस कर्म का उदय होता है तब प्राणी क्रोध में डूबा रहता है, छोटी-मोटी बातों पर अहंकार करता है। धोखाधड़ी, ईर्ष्या, घृणा, दूसरों को सताकर आनन्द लेना, धार्मिक बातों में रुचि न लेना, धार्मिक बातों के विरुद्ध होना, असत्य के प्रति आकर्षण आदि मोहनीय कर्म के उदय के ही परिणाम हैं। इस कर्म से शुद्ध चेतना मूर्च्छित हो जाती

है। विषय भोगों में आसक्ति बनी रहती है। इसीलिए जैनागमों में इसकी तुलना मद्यपान करने वाले के समान की गई है। जिस प्रकार मद्यपान करने वाले को सुध-बुध नहीं रहती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म का उदय होने पर व्यक्ति को यथार्थ का भान नहीं रहता। विपरीत बातों में श्रद्धा होती है।

**५. आयुष्य कर्म** - चार गतियाँ हैं—नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति एवं देव गति। इन गतियों में जब जीव जाता है, तब वह वहाँ कितने समय तक रहेगा, इसका निर्धारण पहले ही हो जाता है। यही निर्धारण का कार्य आयुष्य कर्म करता है। दूसरे शब्दों में जीव को विभिन्न गतियों में एक निश्चित अवधि तक बाँध कर रखने वाला कर्म आयुष्य कर्म है। आयुष्य कर्म को पूरा भोगे बिना जीव एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकता और इन कर्म को क्षय किये बिना मोक्ष भी नहीं पा सकता। इसलिए इसकी तुलना बेड़ी से की गई है। जिस प्रकार बेड़ी से बंधा हुआ व्यक्ति इधर-उधर नहीं जा सकता। उसी प्रकार इस कर्म से छुटकारा न मिलने तक व्यक्ति एक गति से अन्य गति में नहीं जा सकता। मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

**६. नाम कर्म** - इस विश्व में अनेक मनुष्य हैं, अनेक जीव-जन्तु रहते हैं। परन्तु शरीर संरचना की दृष्टि से देखा जाए तो कोई भी एक जीव दूसरे से नहीं मिलता। कुछ-न-कुछ अन्तर होता है। इसके अलावा कोई लम्बा, कोई चौड़ा, कोई मोटा, कोई पतला, किसी के आँख नहीं तो किसी के हाथ नहीं। इस प्रकार अनेक भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। इस विभिन्नता का कारण नाम कर्म है। नाम कर्म के उदय से ही शरीर मिलता है। जैनागमों में इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार चित्रकार नये-नये चित्रों का निर्माण करता है, उसी प्रकार नाम कर्म के कारण विभिन्न प्रकार के शरीर, स्वर, रूप, रंग आदि का निर्माण होता है।

**७. गोत्र कर्म** - गोत्र कर्म व्यक्ति को उच्च गोत्र मिलने या नीच गोत्र मिलने में निमित्तभूत होता है। कोई नहीं चाहता हम नीचे कुल में जन्में, फिर भी कोई उच्च कुल में जन्म लेता है, कोई नीचे कुल में जन्म लेता है। कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय है तो कोई शुद्र है। शुद्र समाज में हीनता की दृष्टि से देखा जाता है। इसके पीछे मूल कारण गोत्र कर्म है। गोत्र कर्म के कारण व्यक्ति को ऊँचा या नीचा कुल, गोत्र मिलता है। इसकी तुलना कुम्भकार से की गई है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े जैसे चाहे, वैसे घड़ों का निर्माण करता है, वैसे ही गोत्र कर्म के उदय से जीव को उच्च गोत्र या नीच गोत्र मिलता है।

**८. अन्तराय कर्म** - आत्मा में अनन्त शक्ति है। इस शक्ति को आवृत्त करने वाला अन्तराय कर्म कहलाता है। बहुत बार देखा जाता है कि व्यक्ति के पास बुद्धि व अन्य सभी सहयोग होते हुए भी व्यापार में घाटा लग जाता है। अनेक प्रयासों के बाद कार्य में सफलता नहीं मिलती। कुछ लोगों के पास सब कुछ होते हुए भी ऐसी बीमारी आ जाती है कि योग्य पदार्थों का भोग नहीं कर सकते। इस प्रकार ये सभी अन्तराय कर्म के कारण होते हैं। अन्तराय कर्म व्यक्ति को इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं करने देता।

## ५.४ कर्म बन्धन के कारण

आत्मा की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति से कर्म पुद्गल आकृष्ट होते हैं। ये कर्म पुद्गल विभिन्न रूपों में व्यक्ति के कार्यों में बाधा डालते हैं। अतः उन प्रवृत्तियों तथा कारणों से बचना आवश्यक है, जिनसे कर्म-पुद्गल आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। आठ कर्म जिन प्रवृत्तियों तथा जिन कारणों से बंधते हैं, वे कारण नीचे दिये जा रहे हैं—

### १. ज्ञानावरणीय कर्म बन्धन के कारण

ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। जैनागमों में ज्ञानावरणीय कर्म बन्धन के निम्न कारण बताये गए हैं— १. ज्ञान का अपमान करना, २. ज्ञानी का अपमान करना, ३. ज्ञान को छिपाना, ४. ज्ञानदाता का नाम छिपाना, ५. ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना, ६. ज्ञान प्राप्ति में विघ्न डालना, ७. ज्ञान का दुरुपयोग करना।

**१. ज्ञान का अपमान करना**—इस संसार में ऐसे अनेक लोग हैं, जिनका मत है कि ज्ञान दुःख का मूल कारण है, अज्ञान ही श्रेयस्कर है। इनके अनुसार जहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं होता, वहाँ किसी प्रकार का वाद-विवाद भी नहीं होता। इस प्रकार जो लोग ज्ञान के प्रति विद्रोह एवं विरोध की भावना रखते हैं, ज्ञान की आशातना करते हैं, उदाहरण के लिए पुस्तकें जमीन पर पड़ी हैं, उन्हें पैरों से ठोकर मारकर चले जाते हैं, ऐसे लोग ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करते हैं।

**२. ज्ञानी का अपमान करना**—बहुत बार देखा जाता है कि कुछ लोग अल्प ज्ञान होने पर भी गर्व से फूल जाते हैं और

वास्तव में जो ज्ञानी होते हैं, जिनकी प्रज्ञा कुछ सीमा तक जागृत होती है, उनका अहंकार अथवा ईर्ष्या के कारण अपमान करते हैं, ऐसे लोग ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करते हैं।

**३. ज्ञान को छिपाना**—ज्ञान होने पर भी दूसरों को न बताना, कहीं दूसरा मेरे से आगे न बढ़ जाए, उसकी तरफ़ी न हो जाए, इस दृष्टि से अपने ज्ञान को छिपा लेना भी ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध का एक कारण है।

**४. ज्ञानदाता का नाम छिपा लेना**—कुछ शिष्य प्रतिभा सम्पन्न होते हैं। वे जिस गुरु से ज्ञान प्राप्त करते हैं, उनसे ही आगे बढ़ जाते हैं। परन्तु ऐसे समय में वे गुरु का उपकार न मानकर स्वयं को सब कुछ मानते हैं। गुरु का नाम छिपा लेना ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध का कारण बनता है।

**५. ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना**—कुछ लोग पूर्वकृत कर्मों के कारण अल्पबुद्धि होते हैं। ऐसे लोगों के मन में भीतर ही भीतर ज्ञान या ज्ञानी के प्रति ईर्ष्या के भाव पैदा हो जाते हैं। ईर्ष्या के कारण वे ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखते हैं। समय-समय पर उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं, जिससे स्वयं ज्ञानावरणीय कर्म का अर्जन करते हैं।

**६. ज्ञान प्राप्ति में विघ्न डालना**—बहुत सारे लोगों की बौद्धिक संकीर्णता इतनी अधिक होती है कि वे दूसरों की प्रगति या उन्नति देख नहीं सकते, जिसके कारण वे ऐसा प्रयास करते हैं कि ज्ञान प्राप्त करने में सामने वाले को कठिनाई पैदा हो जाए। इस प्रकार दूसरों को ज्ञान प्राप्त करने में बाधा पहुँचाने वाला भी ज्ञानावरणीय कर्म का अर्जन करता है।

**७. ज्ञान का दुरुपयोग करना**—ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कुछ लोग हिंसक कार्यों में उसका उपयोग करते हैं। दूसरों को टगते हैं। मौज-शौक के लिए उसका उपयोग करते हैं। इस प्रकार ज्ञान का दुरुपयोग करने से भी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

## २. दर्शनावरणीय कर्म बन्ध के कारण

दर्शनावरणीय कर्म बन्ध के कारण ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही है। केवल ज्ञान या ज्ञानी के स्थान पर दर्शन या दर्शनी को समझ लेना चाहिए।

## ३. वेदनीय कर्म बन्ध के कारण

वेदनीय कर्म के कारण व्यक्ति सुख या दुःख की प्राप्ति या अनुभूति करता है। जिन कारणों से व्यक्ति दुःख की प्राप्ति या अनुभूति करता है, वे निम्न हैं—

१. अपनी दुष्प्रवृत्तियों से अथवा बुरी आदतों से अन्य प्राणियों को दुःख देना।
२. छोटी-छोटी बातों पर कलह, क्रोध आदि करना।
३. ऐसी रुचि रखना, जिससे दूसरे प्राणियों को कष्ट उठाना पड़े। उदाहरण के लिए हम देख सकते हैं कि ऐसे बहुत से लोग होते हैं, जो ऐसे खेलों में आनन्द लेते हैं, जिसमें दो पशुओं को लड़ाया जाता है। पशु लड़-लड़कर लहुलुहान हो जाते हैं और दर्शक इसका आनन्द उठाते हैं। ऐसे खेलों में आनन्द लेने वाले असाता वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं।
४. बिना कारण पशु-पक्षी अथवा वृक्ष आदि प्राणियों पर लाठी आदि से प्रहार करना।

उपरोक्त कारणों में संलग्न होने वाला जीव असाता वेदनीय कर्म का बन्ध करके समय आने पर विभिन्न प्रकार से दुःखों को प्राप्त करता है। वहीं इन कार्यों को न करने वाला दूसरों को अपनी अच्छी क्रियाओं से सुख पहुँचाने वाला साता वेदनीय कर्म का बन्ध करके समय आने पर सुख की प्राप्ति करता है।

## ४. मोहनीय कर्म बन्ध के कारण

आठ कर्मों में सबसे खतरनाक कर्म मोहनीय कर्म है। यह व्यक्ति को सही ज्ञान नहीं होने देता। व्यक्ति की चेतना (आत्मा) को मूर्च्छित कर देता है। अतः यह जिन कारणों से बन्धता है, उसे जानना बहुत जरूरी है। जैनागमों में मोहनीय कर्म बन्ध के चार मुख्य कारण बताये गए हैं—

१. तीव्र क्रोध करना, २. तीव्र मान करना, ३. तीव्र माया करना, ४. तीव्र लोभ करना।



## ५. आयुष्य कर्म बन्ध के कारण

स्वयं के द्वारा कृत कर्मों के अनुसार प्रत्येक जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव—इन चार स्थानों में जन्म लेता है। इन चारों स्थानों में कितने समय तक रहेगा, इसका निर्धारण आयुष्य कर्म के द्वारा होता है। परन्तु इन चारों स्थानों में से जीव किस भव का आयुष्य प्राप्त करेगा, यह उसकी शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों पर निर्भर है।

नरक आयुष्य बन्ध के चार कारण निर्दिष्ट हैं— १. महारम्भ, २. महापरिग्रह, ३. पंचेन्द्रिय वध, ४. मांसाहार।

**१. महारम्भ**—तीव्र एवं क्रूर भावों के साथ अधिक संख्या में किया गया हिंसक कार्य महारम्भ कहलाता है। महारम्भ करने वाला जीव नरक आयुष्य का बन्ध करता है।

**२. महापरिग्रह**—अत्यधिक संचय करने वाला जीव महापरिग्रही कहलाता है। महापरिग्रह करने वाला या पदार्थ में अत्यधिक आसक्ति रखने वाला नरक आयुष्य का बन्ध करता है।

**३. पंचेन्द्रियवध**—पांच इन्द्रियों वाले प्राणियों का वध करना भी नरक आयुष्य का कारण है।

**४. मांसाहार**—मांस, मछली, अण्डे आदि का सेवन करना भी नरक का कारण है।

तिर्यच आयुष्य बन्ध के भी चार कारण निर्दिष्ट हैं— १. माया, २. गूढ़ माया, ३. असत्य भाषण, ४. झूठा तोल-माप।

**१. माया**—छल-कपट करना। मन में कुछ रखना, बाहर कुछ दिखाना, धोखाखड़ी करना।

**२. गूढ़ माया**—अपने द्वारा किये गये कपट को छिपाने के लिए बार-बार कपट करना।

**३. असत्य भाषण**—क्रोध, मान, माया, लोभ या भय के कारण असत्य बोलना।

**४. झूठा तोल-माप**—व्यापार के सन्दर्भ में झूठा तोल-माप करने से तिर्यच योनि का बन्ध होता है।

मनुष्य आयु बन्ध के भी चार कारण निर्दिष्ट किये गए हैं— १. सरलता, २. दयालुता, ३. विनम्रता, ४. ईर्ष्या रहित होना।

**१. सरलता**—मन, वचन एवं शरीर की एकरूपता को सरलता कहते हैं। जैसा मन में है, बाहर भी वैसा ही करने वाला सरल होता है। सरल व्यक्ति मनुष्य आयु का बन्ध करता है।

**२. विनम्रता**—विनम्रता का अर्थ है—अहंकार रहित होकर दूसरों के सामने झुकने वाला। आग्रह न करने वाला मनुष्य आयु का बन्ध करता है।

**३. दयालुता**—प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखना भी मनुष्य आयु बन्ध का कारण है।

**४. ईर्ष्या रहित होना**—जो व्यक्ति दूसरों की प्रगति या सुख को देखकर भी ईर्ष्या नहीं करता, वह मनुष्य आयु का बन्ध करता है।

देव आयु बन्ध के भी कुछ कारण बताये गए हैं—

१. भीतर में रागादि कषाय विद्यमान होने पर भी संयम का यथाशक्य पालन करना।

२. सही तत्त्व को जाने बिना भी तपस्या करना।

३. सहन करने से कर्म कटते हैं, ऐसा न जानने पर भी सहन करना।

## ६. नाम कर्म बन्ध के कारण

नाम कर्म दो प्रकार के हैं—अशुभ नाम, शुभ नाम। अशुभ नाम कर्म बन्ध के चार कारण बताये गए हैं— १. काया की वक्रता, २. भाषा की वक्रता, ३. भावों की वक्रता, ४. कथनी और करनी में असमानता, इन चारों के विपरीत काया, भाषा, भावों की सरलता तथा कथनी और करनी में समानता होने से शुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

## ७. गोत्र कर्म बन्ध के कारण

गोत्र भी दो प्रकार के होते हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। जो व्यक्ति अपने जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, तप, लाभ एवं ऐश्वर्य का अहंकार करता है, वह भविष्य के लिए नीच गोत्र का बन्ध करता है और जो इनका अहंकार नहीं करता अर्थात् इन सबके मिलने पर भी गर्व से फूलकर गलत प्रवृत्तियाँ नहीं करता, वह उच्च गोत्र कर्म का बन्ध करता है।

## ८. अन्तराय कर्म बन्ध के कारण

अन्तराय कर्म बन्ध के मुख्य पाँच कारण बताये गए हैं—

१. दान देने की सामग्री होते हुए भी संयमी को दान न देना अथवा कोई दे रहा है तो उसे रोक देना।
२. किसी को धन प्राप्ति या किसी प्रकार का लाभ होने वाला हो तो उसमें बाधा डाल देना।
३. भोग की सामग्री किसी को उपलब्ध हो या उपलब्ध होने वाली हो तो ईर्ष्यावश उसमें बाधा पहुँचाने का प्रयास करना।
४. कोई व्यक्ति अपने मकान, वस्त्र, वाहन, आभूषण आदि उपभोग्य सामग्री का उपयोग कर रहा हो, उसमें बाधा डालना या बाधा डालने का प्रयास करना।
५. शक्ति होने पर भी अच्छे कार्य, धार्मिक कार्य नहीं करना।

## ५.५ कर्म शुद्धि एवं व्यक्तित्व विकास

विभिन्न कर्मों के कारण व्यक्ति नाना रूपों को प्राप्त करता है। नाना प्रकार के सुख-दुःख का वेदन करता है। फिर भी कर्म सर्वशक्ति सम्पन्न सत्ता नहीं है। इसकी भी अपनी सीमा है। वह उसी आत्मा पर प्रभाव डालता है, जो कषायों से मलिन है। राग-द्वेष अर्थात् कषाय रहित आत्मा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए भगवान महावीर ने पुरुषार्थ का सिद्धान्त दिया। पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों के प्रभाव को निरस्त किया जा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कर्म शुद्धि के लिए कुछ उपायों की चर्चा की है। इन उपायों की सहायता से कर्मों को तोड़कर व्यक्ति स्वयं के व्यक्तित्व को बदलने की दिशा में गति कर सकता है। कर्मशुद्धि के निम्न उपाय निर्दिष्ट हैं—

**१. सम्यक् दृष्टिकोण—** सम्यक् दृष्टिकोण का अर्थ है—जीव, अजीव आदि तत्त्वों को समझना और स्वीकार करना। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो मिथ्या विचारों को छोड़ना, नकारात्मक सोचना तथा आज की भाषा में पोजिटिव थिंकिंग रखना। नकारात्मक विचार, नकारात्मक दृष्टिकोण के कारण ही व्यक्ति नकारात्मक आचरण करता है। परिणामस्वरूप कर्म आकृष्ट होते हैं। यदि दृष्टिकोण को बदल दिया जाए तो कर्मों का द्वार बन्द हो जाता है।

**२. संक्रमण—** संक्रमण का अर्थ है—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति में बदलना। सामान्यतया यह माना जाता है कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही भुगतना पड़ता है। परन्तु जैनागमों के अनुसार ऐसा नहीं होता है। व्यक्ति पुरुषार्थ के द्वारा अशुभ भावों को शुभ भावों में बदलकर अशुभ कर्मों को शुभ परिणाम देने वाले कर्मों में परिवर्तित कर सकता है।

**३. आसक्ति त्याग —** कर्म बन्धन का एक बहुत बड़ा कारण है—आसक्ति। आसक्ति अर्थात् लगाव। पदार्थ या व्यक्ति किसी के प्रति भी होने वाली आसक्ति बन्धन का कारण बनती है। पदार्थ एवं व्यक्ति के प्रति होने वाली मूर्च्छा को कम करना कर्म बन्धन को शिथिल करने का उपाय है।

**४. साधना —** साधना को एक शब्द में परिभाषित करना कठिन है। साधना के अनेक प्रकार हो सकते हैं। ध्यान एक साधना है, तो तपस्या भी एक साधना है। ध्यान के द्वारा कर्म क्षीण होते हैं तो तपस्या से भी कर्म क्षीण होते हैं। तपस्या का अर्थ है—आहार विजय की साधना। आहार की आसक्ति को छोड़कर समय-समय पर व्रत ग्रहण करना तपस्या है। तपस्या करने से कर्म मलिनता दूर होती है। कर्म की मलिनता जैसे-जैसे घटती है, वैसे-वैसे व्यक्तित्व निखरता चला जाता है।

## बोध-प्रश्न — १

### १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

१. 'व्यक्तित्व विकास' के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक अवधारणा क्या है? समझाइये।
२. कर्म क्या है? स्पष्ट करते हुए कर्म के प्रकारों को विस्तार से समझाइये।
३. कर्म को परिभाषित करते हुए कर्म किन-किन कारणों से बंधते हैं? स्पष्ट करें।
४. 'व्यक्तित्व विकास का एक महत्त्वपूर्ण आधार है—कर्म', क्या आप इस कथन से सहमत हैं? यदि हाँ तो कैसे? समझाइये।

## ५.६ प्राण : स्वरूप

अध्यात्म वेत्ताओं ने व्यक्तित्व विकास का एक आधार कर्म को माना, तो दूसरे आधार के रूप में प्राण को स्वीकार किया। प्राण भी व्यक्तित्व विकास का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। हमारी प्राणशक्ति जितनी तेजस्वी होती है, व्यक्तित्व भी उतना ही तेजस्वी हो जाता है। अतः प्राण को भी समझना जरूरी है।

### ५.६.१ प्राण : अर्थ

प्राण शक्ति की खोज भारतीय ऋषियों की एक विशिष्ट देन है। चीन में जिस 'चो एनर्जी', जापान में 'की एनर्जी', पश्चिम में 'युनिवर्सल एनर्जी' और 'वाइटल फोर्स' के नाम से पुकारते हैं। शरीर-विज्ञानी इसे 'बायोलॉजीकल एनर्जी' कहते हैं। भारतीय ऋषियों की परिकल्पना इससे बहुत आगे थी। उन्होंने प्राण को ब्रह्माण्ड की मूलभूत शक्ति माना है। भारतीय ऋषियों ने अपने आध्यात्मिक बल व अनुभूति के आधार पर यह घोषणा कर दी कि ब्रह्माण्ड में मूलभूत एक ही बल है, जिसे प्राण कहा गया है। अन्य सभी बल इसी से उद्भूत हुए हैं।

'योगशास्त्र' के अनुसार प्राण का अर्थ ब्रह्माण्ड में व्याप्त ऐसी ऊर्जा है, जो जड़ और चेतन दोनों का समन्वित रूप है।

आचार्य तुलसी ने प्राण को परिभाषित करते हुए लिखा है— '**जीवनीशक्ति: प्राणः**'। प्राण सम्पूर्ण शरीर को चलाने वाली ऊर्जा है। इसके संयोग से जीव जीवन अवस्था को प्राप्त होता है एवं वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त होता है।

स्वामी श्री शिवानंद के अनुसार विश्व में व्याप्त सभी प्रकार की शक्तियों का योग प्राण है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आत्मा और पुद्गल का योग होने पर एक नई शक्ति पैदा होती है, जिसे प्राण कहते हैं। इसी के द्वारा समूचे जीवन का संचालन होता है।

शरीर एक शक्तिशाली यंत्र है और इसके सुसंचालन में जिस ऊर्जा की आवश्यकता होती है, वह एक प्रकार की विशिष्ट विद्युत है। अध्यात्म की भाषा में इसे ही प्राण कहा गया है। प्राण हमें हवा, सूर्य, पानी और भोजन आदि से प्राप्त होता है। योगियों के अनुसार प्राण हवा में है किन्तु यह कोई विटामिन नहीं है। प्राण सूर्य किरणों से प्राप्त होता है परन्तु यह कोई पराबैंगणी या अन्य प्रकार की कोई किरणें नहीं हैं।

जैनाचार्यों के अनुसार प्राणशक्ति का मूल स्रोत तैजस् शरीर है। तैजस् के परमाणु आकाश मण्डल में व्याप्त हैं। उन परमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। परमाणुओं का आकर्षण अधिक मात्रा में होता है तो तैजस् शरीर पुष्ट होता है और कम मात्रा में होता है तो तैजस् शरीर क्षीण होता है। तैजस् शरीर के अनुसार स्थूल शरीर में प्राणशक्ति का विकिरण होता रहता है।

### ५.६.२ प्राण के प्रकार

प्राणशक्ति एक ही है, उसे विभाजित नहीं किया जा सकता परन्तु यह शक्ति पूरे शरीर में भ्रमण करती हुई अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग कार्य करती है, कार्य के आधार पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से विभाजित किया है। हठयोग में शरीर में स्थित प्राण को पांच भागों में विभाजित किया गया है— प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

जैनदर्शन के अनुसार प्राण के दस प्रकार हैं— श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण, आयुष्य प्राण।

इस प्रकार आंख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा आदि पांच इन्द्रियों को सक्रिय रखने वाले प्रथम पांच प्राण हैं। मन, वचन, काय को सक्रिय रखने वाले मन, वचन और काय प्राण हैं। श्वासोच्छ्वास प्राण रक्त शोधन के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर को सक्रिय रखता है। जीवन को टिकाने वाला आयुष्य प्राण है।

यद्यपि प्राण के प्रकारों के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न विचार परिलक्षित होते हैं। फिर भी मुख्य रूप से प्राणों को दो भागों में विभक्त किया गया है— देहस्थ प्राण और मानसिक प्राण।

**१. देहस्थ प्राण**— जो पूरे शरीर का संचालन करता है, वह देहस्थ प्राण है। देहस्थ प्राण को दो भागों में विभक्त किया गया है— उच्च प्राण एवं निम्न प्राण। शरीर के ऊपरी भाग अर्थात् नाभि से ऊपर के भागों में जो प्राण विचरण करता है, वह उच्च प्राण

कहलाता है। यह प्राण उच्च यानि अच्छी वृत्तियों का जनक है। शरीर के अधोवर्ती भाग में जो प्राण विचरण करता है, वह निम्न प्राण कहलाता है, यह प्राण निम्न वृत्तियों को जन्म देता है।

**२. मानसिक प्राण**—जो मन का संचालन करता है, वह मानसिक प्राण है। इस प्राण के सशक्त होने पर उच्च मानसिक वृत्तियाँ जन्म लेती हैं। कला, उच्च स्तरीय संकल्प, एकाग्रविचार एवं सरल संवेग विशुद्ध मनोमय प्राण के फलित हैं। मानसिक प्राण की दुर्बल, निम्न या अजागृत अवस्था में इनके विपरीत भाव प्रकट होते हैं।

प्राण देहस्थ हो या मानसिक यदि निम्न स्थानों में विचरण करता है, उसकी गति कामकेन्द्रों के आस-पास रहती है तो जघन्य स्तरीय कामनाएँ, तीव्र आग्रहभाव, निन्दा, वैमनस्य, स्वार्थपूर्ण लड़ाइयाँ आदि निम्न स्तर के मनोवेग प्रकट होते हैं। इस स्तर के व्यक्ति न स्वयं का भला करते हैं और न समाज व राष्ट्र- का। स्वस्थ संतुलित एवं उच्च स्तर का जीवन यापन करने की चाह रखने वालों को प्राण को विकसित एवं शुद्ध करना आवश्यक है।

### ५.६.३ प्राण शुद्धि के उपाय

हमारे शरीर के जो मुख्य भाग हैं, उन सभी भागों पर प्राण अपने ढंग से गति करता है किन्तु जब तक प्राण की गति पर हमारा नियंत्रण नहीं हो जाता, तब तक वह शुद्ध नहीं हो सकता और न ही हमारी इच्छा से संचालित हो सकता है। प्राण-संप्रेषण के लिए प्राणशुद्धि और प्राणसंग्रह (प्राण को इकट्ठा करना) इन दोनों की अपेक्षा है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार हमारी प्राणशक्ति या जीवनीशक्ति को नष्ट करने वाले मुख्य तीन तत्त्व हैं— १. प्रतिक्रियात्मक व्यवहार, २. अति चिन्तन, अति कल्पना और अति स्मृति, ३. निषेधात्मक दृष्टिकोण।

जिस व्यक्ति की प्राणशक्ति कम होती है, उसकी नकारात्मक सोच बढ़ती है और नकारात्मक सोच मानसिक कष्ट पैदा करती है। मानसिक कष्टों को सहन करना जटिल होता है। कष्टों को सहने की अक्षमता के कारण वह बार-बार निराश होता है और निराशा के क्षणों में वह आत्महत्या की बात सोचता है। सामान्य-सी प्रतिकूलता भी उसे अधीर बना देती है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोग जहाँ शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक कष्टों को सहने की क्षमता बढ़ाते हैं, वहीं प्राणशक्ति को भी विकसित करते हैं। प्रेक्षाध्यान में प्राण-संवर्धन के निम्न उपाय निर्दिष्ट किये गए हैं—

**१. उपवास**— उपवास के द्वारा प्राणशक्ति बढ़ती है। तपस्या हमारी ऊर्जा को एकत्रित कर ऊर्ध्वगामी बनाता है। भोजन से प्राप्त होने वाली ऊर्जा शरीर यंत्र का संचालन कर सकती है, किन्तु चेतना के क्षेत्र में विस्फोट करने के लिए वह ऊर्जा पर्याप्त नहीं है। विस्फोट के लिए सूक्ष्म ऊर्जा अपेक्षित है। वह तपस्या से प्राप्त होती है। तपस्या में भी यदि पानी न लिया जाये तो अधिक ऊर्जा पैदा होती है।

**२. संकल्प शक्ति** — संकल्प शक्ति के द्वारा भी व्यक्ति अपनी प्राण-ऊर्जा का संवर्धन कर सकता है। खुले आकाश के नीचे या कहीं शान्त वातावरण में बैठकर “यह ब्रह्माण्ड प्राणशक्ति से भरा हुआ है और इस पूरे ब्रह्माण्ड से प्राणशक्ति मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है, मेरी प्राण शक्ति बढ़ रही है” इस प्रकार संकल्प करके भी प्राण ऊर्जा को बढ़ाया जा सकता है।

**३. आसन**— आसन भी ऊर्जा के उर्ध्वारोहण में सहायक बनते हैं। उकड़ू आसन करने से नीचे के रनायुओं पर दबाव पड़ता है। गोदोहिका आसन से पीछे की ओर दबाव पड़ता है, जिससे ऊर्जा ऊपर जाने लगती है। सर्वांगासन, शीर्षासन, वृक्षासन, पद्मासन इन सारे आसनों से ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है। ध्यान के लिए जितने आसनों का विधान किया गया, वे सब ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपक्रम हैं।

**४. प्राणायाम** — प्राणायाम के प्रयोगों से प्राणशक्ति की अग्नि प्रज्वलित होती है। प्राण को प्राणवायु का ईंधन जितना अधिक मात्रा में मिलता है, उतना ही प्राण-मिश्रित चैतन्य विकसित होता है। प्राणायाम के माध्यम से प्राण को नाड़ी-चक्रों में प्रवाहित कर प्राण का संवर्धन किया जाता है।

**५. सूर्य की आतापना**— सूर्य की आतापना प्राण-शक्ति को बढ़ाने का बहुत बड़ा स्रोत है। सूर्योदय के समय खुले बदन सूर्य के सामने खड़ा होना सूर्य की आतापना लेना है। इससे प्राण शक्ति को बल मिलता है। शरीर में प्राण ऊर्जा का संवर्धन होता है।

**६. ऊर्जा केन्द्रों पर ध्यान**—प्रेक्षाध्यान में तेरह चैतन्य केन्द्र माने गए हैं, उनमें से शक्तिकेन्द्र, तैजसकेन्द्र, प्राणकेन्द्र और विशुद्धि केन्द्र को ऊर्जा केन्द्र माना गया है। इन ऊर्जा केन्द्रों पर ध्यान करने से प्राणशक्ति का संवर्धन होता है।

**७. प्रतिक्रिया विरति** – जीवनी शक्ति के क्षरण को रोकने के लिए प्रतिक्रिया विरति का अभ्यास आवश्यक है। जब तक इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण और मन उन पर चिंतन-मनन करता है, तब तक सर्वथा प्रतिक्रिया से नहीं बचा जा सकता। यहाँ प्रतिक्रिया विरति का अर्थ है—अतिमात्रा में प्रतिक्रिया न करें, क्योंकि क्रिया से अधिक प्रतिक्रिया में शक्ति खर्च होती है। प्रतिक्रिया क्रोध, अहंकार, घृणा, ईर्ष्या को जन्म देती है। इससे प्रतिक्रिया को बढ़ावा मिलता है। प्रतिक्रिया प्रमाद है। अप्रमाद का जीवन प्रतिक्रिया विरति का जीवन है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रतिक्रिया विरति का साधन सूत्र है—समता की आराधना। जैसे-जैसे समभाव की वृद्धि होगी, प्रिय-अप्रिय संवेदन से ऊपर उठने का अभ्यास होगा, वैसे-वैसे प्रतिक्रिया विरति सधती चली जायेगी। इससे हमारी शक्ति का संवर्धन होगा।

**८. सकारात्मक सोच**— निषेधात्मक दृष्टिकोण से प्राणशक्ति का व्यय होता है। निषेधात्मक भाव हमारा शत्रु है। इस शत्रुता के भाव से बचकर हमें मित्रता के भाव को अपनाना चाहिए। मैत्री का विकास होने पर दृष्टिकोण रचनात्मक हो जाता है। मैत्री का अर्थ केवल दूसरों के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करना ही नहीं है अपितु इसका अर्थ सकारात्मक दृष्टिकोण बनाना है।

**९. दीर्घ श्वासप्रेक्षा**— दीर्घ श्वासप्रेक्षा का प्रयोग प्राण ऊर्जा को सक्रिय बनाने का प्रयोग है। दीर्घ श्वास के द्वारा ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में भीतर जाती है, जिससे फुफ्फुस का प्रत्येक कोश सक्रिय बन जाता है। श्वास के साथ ऑक्सीजन का ही नहीं अपितु आकाश मण्डल में व्याप्त प्राण का भी आहरण होता है। जितना अधिक प्राण का आहरण होता है, उतना ही शक्ति का संवर्धन होता है।

**१०. आहार-संयम** – आहार का हमारे शरीर, मन, विचार और कार्य पर प्रभाव पड़ता है। अति आहार हमारी प्राणशक्ति का व्यय करता है, क्योंकि अतिरिक्त भोजन करने वालों की सारी ऊर्जा आंतों में खप जाती है। यदि ऊर्जा सीमित है तो मस्तिष्क में काम आने वाली ऊर्जा भी उसमें खप जाती है। अतः शक्ति संवर्धन के लिए आहार संयम आवश्यक है।

**११. मन-वचन और काय का संयम** – मन का कार्य है—चिन्तन, कल्पना और स्मृति करना। अति चिन्तन, अति कल्पना और अति स्मृति से प्राण-शक्ति क्षीण होती है। बोलने से भी प्राणशक्ति क्षीण होती है अतः अनावश्यक नहीं बोलना चाहिए। बोलना आवश्यक हो तो धीमे बोलना चाहिए। इसी प्रकार शरीर को भी अधिक से अधिक स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिए। मन-वचन-काया की स्थिरता से प्राण-शक्ति का विकास होता है। इस प्रकार उपरोक्त प्राण संवर्धन के उपायों को अपनाकर प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी, ओजस्वी एवं ऊर्जावान बना सकता है।

## ५.७ समाधि : स्वरूप

व्यक्तित्व विकास का एक महत्वपूर्ण उपाय है—ध्यान। ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था है—समाधि। व्यक्ति जैसे-जैसे समाधि की ओर बढ़ता है, उसका व्यक्तित्व अपने आप सर्वांगीणता को प्राप्त कर लेता है। अतः समाधि क्या है? उसे कैसे प्राप्त किया जाए? तथा समाधि के दौरान आने वाले विघ्नों को कैसे दूर किया जाए? आदि बातों को समझना जरूरी है।

### ५.७.१ समाधि : अर्थ

पातंजल योगदर्शन में अष्टांग योग की चर्चा की गई। अष्टांग योग का आठवां अंग है—समाधि। पातंजलि ने समाधि को परिभाषित करते हुए कहा—“तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः”। जब ध्यान इतना प्रगाढ़ होता है कि उसमें केवल ध्येय विषयमात्र का ही ज्ञान होता रहता है। ज्ञानात्मक स्वभाव शून्य के समान होता है, तब उसे समाधि कहते हैं।

ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम है—समाधि, जो चित्त स्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है, इससे और अधिक चित्तस्थैर्य नहीं हो सकता है। विभूतिपाद में कहा गया—“आत्मविस्मृति की तरह ध्यान ही समाधि है”। इस अवस्था में आत्मविस्मृति हो जाती है, ध्येय से अपना पृथक्त्व ज्ञान गोचर नहीं होता।

बौद्ध साधना पद्धति में समाधि का अर्थ चित्त और चैतसिक का दृढ़ स्थिरीकरण है। मन ध्यान-वस्तु में स्थिर हो जाता है, क्योंकि मन के साथ रहने वाले मानसिक तथ्य (चैतसिक) पवित्र होते हैं और वे मन को स्थिर होने में सहयोग देते हैं।

जैन साधना-पद्धति में समाधि को परिभाषित करते हुए कहा गया—“शुद्धचैतन्यानुभवः समाधिः”। अर्थात् शुद्ध चैतन्य का अनुभव या चित्त का सन्तुलन ही समाधि है। धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों एक ही तत्त्व की तीन अवस्थाएँ हैं। धारणा के पश्चात् ध्यान और ध्यान के पश्चात् समाधि है। धारणा चित्त की एकाग्रता से शुरू होती है, ध्यान में एकाग्रता परिपुष्ट होती है



और समाधि में वह निरोध की अवस्था में बदल जाती है। तात्पर्य यही है कि समाधि की अवस्था उत्कृष्ट अवस्था है। इसमें ध्येय और ध्याता एक हो जाते हैं। केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है।

‘मनोनुशासनम्’ में आचार्य तुलसी ने समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—“विकल्पशून्यत्वेन चित्तस्य समाधानं वा” रागद्वेष से रहित चित्त जब विकल्प शून्य होकर समाहित हो जाता है, जिस अवस्था में केवल समता प्रकट हो जाती है। चित्त की वह अवस्था समाधि कहलाती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने समाधि को परिभाषित करते हुए कहा—“समाधानं समाधि” जिस वस्तु से मन, वचन और काया को समाधान मिलता हो, वह समाधि है।

## ५.७.२ समाधि : प्रकार

सामान्य रूप से समाधि दो प्रकार की है— १. द्रव्य समाधि, २. भाव समाधि।

**१. द्रव्य समाधि**—“द्रव्यमेव समाधिः द्रव्य समाधिः।” जिस द्रव्य से समाधि प्राप्त होती है, उसे द्रव्य समाधि कहते हैं। जैसे—व्यक्ति, परिस्थिति, पदार्थ, अवस्था आदि के संयोग से होने वाली शांति, आनन्द, प्रसन्नता इत्यादि।

**२. भाव समाधि**—जिस भाव में साधक, सम्यक् चारित्र में स्थित होता है, वह भाव समाधि है।

इसके अलावा भिन्न-भिन्न दर्शनों में समाधि के भिन्न-भिन्न प्रकारों का उल्लेख मिलता है। योग दर्शन में समाधि के दो भेद किये गए हैं—सम्प्रज्ञात समाधि एवं असम्प्रज्ञात समाधि।

### सम्प्रज्ञात समाधि

मनुष्य की प्रकृति में तीन प्रकार के गुण पाए जाते हैं—सत्व गुण, रजस् गुण और तमस् गुण। जब प्रकृति में रजस् और तमस् गुण की प्रधानता होती है, तब व्यक्ति का स्वभाव उच्छृंखल एवं चंचलता प्रधान होता है। सत्व गुण प्रधान होने पर चित्त की निर्मलता बढ़ती है, सात्विक वृत्तियाँ बढ़ती हैं। ध्यान करते-करते जब रजस् और तमस् वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और सत्व गुण प्रधान होने से निर्मल बना हुआ चित्त जब ध्येय पदार्थ का चिंतन करने में समर्थ हो जाता है, तब उस समय प्राप्त होने वाली समाधि की अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में योग दर्शन के अनुसार विषयों का साक्षात्कार स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है।

### असम्प्रज्ञात समाधि

यह सम्प्रज्ञात समाधि के भी बाद की अवस्था है। सम्प्रज्ञात समाधि में जिस ज्ञान का उदय होता है असम्प्रज्ञात समाधि में उसके प्रति भी हेय बुद्धि बन जाती है। इस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि के बुझ जाने पर अंगारा शेष रह जाता है, उसी प्रकार समस्त अच्छी-बुरी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर बनने वाली चित्त की अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है।

जैन साधना पद्धति में समाधि के पांच प्रकारों का उल्लेख मिलता है—समता समाधि, विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि, चारित्र समाधि।

**१. समता समाधि**—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहने का अभ्यास करते-करते राग-द्वेष के विकल्प जब शांत हो जाते हैं, चित्त समाहित हो जाता है। तब चित्त की जो अवस्था बनती है, उसे समता समाधि कहते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति पूर्ण समता में होता है। बाहर के द्वन्द्व उसमें क्षोभ पैदा नहीं कर सकते। कोई उसकी पूजा करे, सत्कार करे या कोई उसकी निन्दा करे, उसे कोई सुखी या दुःखी नहीं बना सकते।

**२. विनय समाधि**—समाधि का अर्थ है—विकल्पों से रहित चित्त की अवस्था। व्यक्ति विनय के द्वारा प्राप्त चित्त समाधि की अवस्था विनय समाधि कहलाती है। जो व्यक्ति विनय नहीं होता, अभिमानी, अहंकार से भरा हुआ होता है। जो धन, वैभव, सत्ता के मद से भीगा हुआ होता है, वह कभी विकल्प शून्य नहीं हो सकता। वह अहंकार के विकल्पों से भरा हुआ होता है। विनय का अर्थ है—अहं से मुक्त रहना। जो अहं से मुक्त रहता है, उसके विकल्प पैदा नहीं होता। वह विनय समाधि को प्राप्त करता है।

**३. ज्ञान समाधि**—ज्ञान का अर्थ है—जानना। जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही जानना ज्ञान है। ज्ञान के साथ जब

राग-द्वेष जुड़ जाते हैं, तब वह संवेदन बन जाता है। वेदन असमाधि है। राग-द्वेष से मुक्त चेतना की ज्ञानावस्था ज्ञान-समाधि है। ज्ञान-समाधि के लिए चार बातें आवश्यक हैं—विशुद्ध ज्ञान होना, एकाग्र चित्त होना, स्वयं प्रतिष्ठित होना, दूसरों को स्वयं में प्रतिष्ठित करना। जब चित्त बाह्य विषयों से विरक्त हो ज्ञानमय बन जाता है, तब ज्ञान समाधि फलित होती है।

**४. तप समाधि-** भगवान् महावीर ने तप के बारह प्रकारों का उल्लेख किया। इनमें उपवास, अनशन, ऊनोदरी, रसपरित्याग, कायक्लेश आदि स्थूल शरीर को प्रभावित करते हैं अतः यह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, वैयावृत्य (सेवा), विनय, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि आन्तरिक तप है। यह सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करते हैं। तप में निमग्न चेतना समाधि को प्राप्त करती है। तप से अन्य विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

**५. चरित्र समाधि-** चरित्र का अर्थ है—शुभ भाव। हिंसा, असत्य, परिग्रह, क्रोध, ईर्ष्या आदि अशुभ भावों से विरक्त चेतना अन्य विकल्पों से मुक्त होकर जिस समाधि का अनुभव करती है, वे चरित्र समाधि हैं। चरित्र समाधि को आचार्य महाप्रज्ञ ने आध्यात्मिक प्राणायाम की संज्ञा दी है।

### ५.७.३ समाधि के विघ्न

समाधि साधना की उत्कृष्ट अवस्था है। प्रत्येक साधक इस अवस्था को प्राप्त करना चाहता है। परन्तु अनेक ऐसे कारक हैं, जो साधक के सामने बाधा बनकर उपस्थित हो जाते हैं और साधक को समाधि प्राप्त करने में बाधा डालते हैं। एक साधक को इन बाधाओं के निराकरण के लिए सर्वप्रथम इन्हें जानना जरूरी है। समाधि प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाले बाधक तत्त्व निम्नांकित हैं।

**१. आलस्य-** न केवल समाधि अपितु किसी भी क्षेत्र में असफल होने का एक बहुत बड़ा कारण है—आलस्य शास्त्रकारों ने कहा भी है—“आलस्येव मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः”। मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है—आलस्य। जब तक व्यक्ति आलस्य से ग्रसित रहता है, वह समाधि प्राप्त करना तो दूर, ध्यान करने की सोच भी नहीं सकता। उसका अधिकांश समय निद्रा एवं इधर-उधर की बातों में ही सम्पन्न हो जाता है। एक साधक के लिए साधना में सफलता प्राप्त करने हेतु ब्रह्म मुहूर्त में उठना बहुत आवश्यक है। परन्तु आलसी व्यक्ति के लिए ब्रह्म मुहूर्त में शैय्या त्याग करना बहुत कठिन होता है।

**२. शारीरिक दुर्बलता-** समाधि प्राप्ति के लिए दूसरा विघ्न है—शारीरिक दुर्बलता। कुछ व्यक्ति आलसी नहीं होते, ध्यान या समाधि प्राप्ति की उनमें तड़फ भी होती है, परन्तु शारीरिक दुर्बलता के कारण ध्यान करते समय अनेक प्रकार के विघ्न आ जाते हैं। ध्यान करते समय ऊर्जा का विस्फोट होता है उस विस्फोट को सहन करने की क्षमता कमजोर शरीर में नहीं होती। इस प्रकार कुछ शारीरिक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं और समाधि प्राप्ति में विघ्न पैदा करती हैं।

**३. निद्रा-** निद्रा भी समाधि प्राप्ति में एक बहुत बड़ा विघ्न है। व्यक्ति ध्यान करने बैठता है, निद्रा आकर घेर लेती है। निद्रा आने के अनेक कारण हो सकते हैं—शारीरिक कमजोरी, लाल रंग की शरीर में कमी, अत्यधिक शारीरिक या मानसिक श्रम। इनमें से किसी भी कारण से नींद आए परन्तु नींद आने पर व्यक्ति ध्यान की जिस गहराई में जाना चाहता है जा नहीं सकता।

**४. चंचलता-** कुछ लोग अत्यधिक चंचल होते हैं। उनका मन केवल पांच इन्द्रियों की सन्तुष्टि में ही लगा रहता है। जिसके कारण ध्यान में बैठ जाने पर भी उनको भौतिक दुनियाँ की चकाचौंध चंचल बनाए रखती है। उनका मन केवल बाह्य पदार्थों को पाने की लालसा में ही संकल्प-विकल्प करता रहता है।

**५. अज्ञान-** अज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान का न होना। समाधि प्राप्ति में अज्ञान भी एक विघ्न है। अज्ञान को हम दो सन्दर्भों में समझ सकते हैं। एक ज्ञान का बिल्कुल न होना। कुछ लोग समझदार, शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट एवं जागरूक होते हैं, परन्तु उन्हें समाधि क्या है? समाधि कैसे प्राप्त की जा सकती है? इसका किंचित भी ज्ञान नहीं होता। दूसरा कुछ लोगों को ज्ञान होता है परन्तु अधूरा। अतः सही निर्देशन के अभाव में अविधिवत् ध्यान करने से अनेक समस्याएँ सामने आ जाती हैं। वे यथार्थ को सही ढंग से न समझने के कारण ध्यान को बीच में ही छोड़ देते हैं। परिणामस्वरूप समाधि की अवस्था तक नहीं पहुँच पाते।

**६. रसलोलुपता-** रसलोलुपता का अर्थ है—जिह्वा का वश में न होना। समाधि प्राप्ति के लिए आवश्यक है—हित, मित, सात्विक भोजन। परन्तु जो लोग जिह्वा के वशीभूत होकर केवल चटपटा, गरिष्ठ आहार करते हैं, उनकी चंचलता बढ़ जाती है और समाधि को प्राप्त करना उनके लिए अशक्य हो जाता है।

**७. कौतुहल-** कौतुहल अर्थात् छोटी-मोटी, इधर-उधर की बातों में उत्साह रखना। जो व्यक्ति कौतुहल प्रेमी होते हैं, उनका मन बाहरी अनावश्यक बातों में ही रस लेता है, जिसके कारण उनका मस्तिष्क सदा चंचल बना रहता है। उनके मस्तिष्क

में विचारों की एक शृंखला-सी बनी रहती है। मस्तिष्क में प्रश्न एवं जवाब का अम्बार-सा लगा रहता है, जैसे-क्या हुआ? क्या होगा? इस समस्या का हल यह हो सकता है। इस प्रकार इन व्यक्तियों के मस्तिष्क में अनावश्यक, स्वयं से असम्बन्धित बातें ही भरी रहती हैं। फलस्वरूप ध्यान में इनका मन लग ही नहीं सकता। समाधि प्राप्ति तो इनके लिए बहुत दूर की बात हो जाती है।

**८. प्रमाद-** प्रमाद का अर्थ है-आत्मा के प्रति अनुत्साह। जैन दर्शन के अनुसार आठ कर्मों में एक है-मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म के कारण व्यक्ति के भीतर प्रमाद जागृत होता है। प्रमाद के वशीभूत रहने वाला आत्मा और शरीर की भिन्नता को समझ नहीं सकता। परिणामस्वरूप ध्यान की गहराई में नहीं जा सकता।

### ५.७.४ समाधि प्राप्ति के उपाय

समाधि का अर्थ है-शुद्ध चैतन्य का अनुभव। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति के लिए कुछ उपाय निर्दिष्ट किये गए हैं, जो निम्नलिखित हैं-

**१. प्रतिसंलीनता-** प्रतिसंलीनता का अर्थ है-इन्द्रियों को अपने वश में रखना। यह समाधि प्राप्ति का प्रथम उपाय है। हमारी पांचों इन्द्रियां अपने-अपने विषयों की पाप्मि के लिए लालायित रहती हैं, जिसके कारण ध्यानावस्था में भी प्रायः चंचलता बनी रहती है। जब तक शारीरिक एवं मानसिक चंचलता बनी रहती है, तब तक व्यक्ति चाहते हुए भी समाधि प्राप्त नहीं कर सकता। प्रतिसंलीनता का अर्थ है-इन्द्रियाँ, जो बाहर की ओर भटक रही हैं, उन्हें भीतर की ओर खींच लेना। बाह्य जगत् से सम्पर्क काट लेना। आँख को बन्द कर रूप के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर लेना। कान का संयम कर शब्द के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर लेना। इस प्रकार क्रमशः घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय का अपने-अपने विषयों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना प्रतिसंलीनता है तथा समाधि प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण उपाय है।

**२. संकल्प-** किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है-संकल्प। व्यक्ति जैसा संकल्प करता है, वैसा ही उसके जीवन में घटित हो जाता है। यदि व्यक्ति संकल्प करे कि राग-द्वेष के भाव समाप्त होकर उसके जीवन में वीतरागता घटित हो रही है तो ऐसा ही होने लगता है। आवश्यक है व्यक्ति समाधि प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प करे कि "पवित्र और वीतराग आत्मा जिसका आनन्द अबाधित है, शक्ति पूर्ण जागृत है, शक्ति के स्रोत उद्घाटित है, जिसकी चेतना अनावृत हो चुकी है, ऐसी चित्त को निर्मल बनाने वाली उस महाशक्ति को श्वास के साथ शरीर के कण-कण में ले जा रहा हूँ" इस संकल्प के साथ पूरक करें। इस प्रकार अभ्यास करने पर हमारी आवृत्त शक्तियाँ अनावृत होती हैं और समाधि का मार्ग प्रशस्त होता है।

**३. प्रियता व अप्रियता का असंवेदन-** प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दो प्रकार की घटनाएँ घटती हैं-प्रिय और अप्रिय। व्यक्ति प्रिय घटनाओं का संवेदन करता है, हर्षित होता है लेकिन जब अप्रिय घटनाओं का संवेदन होता है तब दुःख का अनुभव करता है और उन परिस्थितियों से छुटकारा पाना चाहता है। जब तक प्रिय-अप्रिय का संवेदन तीव्र होता है, असमाधि भी तीव्र बनी रहती है। समाधि प्राप्ति के लिए आवश्यक है-प्रिय एवं अप्रिय घटनाओं के प्रति असंवेदनशील रहना।

**४. श्वास प्रेक्षा-** श्वास प्रेक्षा का अर्थ है-श्वास को देखना। जब व्यक्ति श्वास को देखना शुरू करता है तब उसके मानसिक संकल्प-विकल्प स्वतः शान्त हो जाते हैं। चंचलता समाप्त होने लगती है। जैसे-जैसे श्वास पर नियंत्रण बढ़ता है, स्वचालित नाड़ी-संस्थान की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन घटित होने लगता है। धीरे-धीरे इन्द्रियों के संवेदन केन्द्रों पर नियंत्रण हो जाता है। संवेदन केन्द्रों पर नियंत्रण होने से विचारों पर नियंत्रण होने लगता है। विचार नियंत्रित होने पर मन की चंचलता मिट जाती है। परिणामस्वरूप रासायनिक परिवर्तन घटित होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में समाधि स्वतः घटित होने लगती है।

### बोध-प्रश्न - २

#### १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये-

१. प्राण पर एक निबन्ध लिखें।
२. 'व्यक्तित्व विकास का एक महत्त्वपूर्ण आधार है-प्राण' इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए प्राण संवर्धन के उपायों पर प्रकाश डालें।
३. समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए समाधि के प्रकारों की चर्चा करें।
४. ध्यान के समय आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए समाधि प्राप्ति के उपायों का विवेचन करें।

## सन्दर्भ-ग्रंथ

०१. आचार्य महाप्रज्ञ, चित्त और मन, जैन विश्वभारती, १९९०.
०२. डॉ. एच.के. कपिल, अपसामान्य मनोविज्ञान, हरप्रसाद भार्गव, १९८४.
०३. अरुण कुमार सिंह/आशीष कुमार सिंह, आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, २००३.
०४. डॉ. एस.एस. माथुर, सामान्य मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, १९८५.
०५. अरुण कुमार सिंह, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, २००४.
०६. भवानीशंकर उपाध्याय, कार्लगुस्ताव युंग : विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान, राजस्थान हिन्दी अकादमी, १९८३.
०७. मुनि धर्मेश कुमार, जीवन विज्ञान की रूपरेखा, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, २००२.

# जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूं – 341 306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



स्नातक तृतीय वर्ष

विषय—जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान एवं योग

प्रथम पत्र

जीवन विज्ञान का आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार



कॉपीराइट :  
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ

लेखक : डॉ. समणी श्रेयस प्रज्ञा

संस्करण : 2013

मुद्रित प्रतियाँ : 500

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## प्रस्तावना

मनुष्य सुखी एवं स्वस्थ जीवन जीना चाहता है। जीवन को सुखी एवं स्वस्थ बनाने हेतु वह अनेक नये-नये प्रयास करता है। होम्योपैथी, आयुर्वेदिक, एलोपैथी, ज्योतिष-विद्या, वास्तु-शास्त्र ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जो उससे अछूता रहा हो। फिर भी वह पूरी तरह सुखी एवं स्वस्थ हो गया है, कहना कठिन है। इसका कारण है जीवन के सन्दर्भ में हमारी अस्पष्ट धारणा। इस संसार में कुछ लोग ऐसे हैं, जो जीवन के सन्दर्भ में सोचते ही नहीं। कुछ जो जीवन के बारे में सोचते हैं, उसे अच्छा बनाने का प्रयास करते हैं, वे जीवन को सही ढंग से समझ नहीं पाते। सम्यक् समझ के अभाव में अनेक प्रयासों के बावजूद भी वे असफलता ही प्राप्त करते हैं। सुखी एवं स्वस्थ जीवन हेतु जीवन के सही स्वरूप को समझना आवश्यक है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने जीवन के मुख्य सात घटक माने हैं—शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म, चित्त-बुद्धि। सुखी एवं स्वस्थ जीवन के लिए इन सातों का स्वस्थ होना आवश्यक है। इनकी स्वस्थता जीवन की स्वस्थता हैं इनका सन्तुलन जीवन का सन्तुलन है।

मनोविज्ञान व्यवहार के आधार पर मनुष्य का अध्ययन करने वाला विज्ञान है, जिसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यवहार में परिलक्षित होने वाली असामान्यता के पीछे छिपे कारणों की खोज कर उनके सुधार हेतु उपचार निर्दिष्ट करना है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु यह जीवन के विभिन्न घटक—शरीर, श्वास, मन, चित्त, भाव, संवेग आदि का अध्ययन करता है।

जीवन विज्ञान एक आध्यात्मिक विज्ञान है। यह भी जीवन की स्वस्थता हेतु जीवन के विभिन्न घटक—शरीर, श्वास, प्राण, मन, चित्त, भाव आदि का गंभीर अध्ययन करने के साथ-साथ उनके संवर्धन हेतु मार्ग निर्दिष्ट करता है। जीवन विज्ञान एवं मनोविज्ञान दोनों ही ऐसी आधुनिक विद्या शाखा है, जो प्रत्येक मनुष्य को संतुलित एवं स्वस्थ जीवन हेतु आवश्यक सामग्री उपलब्ध करवाती है। सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास के लिए दोनों ही विषयों का अध्ययन अपेक्षित है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में जीवन विज्ञान एवं मनोविज्ञान के स्वरूप के साथ-साथ जीवन के उन प्रमुख घटकों का मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत किया जा रहा है, जो प्रत्येक विद्यार्थी के संतुलित जीवन-विकास हेतु सहयोगी सिद्ध होंगे।

— समणी श्रेयसप्रज्ञा

## अनुक्रम

		पृ. सं. ०१-२०
इकाई-१	<b>शरीर, इन्द्रिय : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार</b>	
	* जीवन विज्ञान : स्वरूप	
	* मनोविज्ञान : स्वरूप	
	* शरीर : मनोवैज्ञानिक आधार	
	* शरीर : आध्यात्मिक आधार	
	* इन्द्रिय : मनोवैज्ञानिक आधार	
	* इन्द्रिय : आध्यात्मिक आधार	
इकाई-२	<b>श्वास, चित्त और मन:मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार</b>	२१-३८
	* श्वास : मनोवैज्ञानिक आधार	
	* श्वास : आध्यात्मिक आधार	
	* चित्त और मन : मनोवैज्ञानिक आधार	
	* चित्त : आध्यात्मिक आधार	
	* मन : आध्यात्मिक आधार	
	* मानसिक स्वास्थ्य के सूत्र	
इकाई-३	<b>बुद्धि और अवधान : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार</b>	३९-५९
	* बुद्धि : मनोवैज्ञानिक आधार	
	* बुद्धि : प्रकार, सिद्धान्त, बुद्धि-लब्धि, बुद्धि अभिवृद्धि	
	* बुद्धि : आध्यात्मिक आधार	
	* अवधान : स्वरूप, प्रकार	
	* अवधान की दशाएँ, महत्त्व, विघ्न एवं प्रेक्षाध्यान	
इकाई-४	<b>भाव, संवेग और अभिप्रेरण : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार</b>	६०-७८
	* भाव एवं संवेग : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण	
	* संवेग : शारीरिक परिवर्तन	
	* भाव : आध्यात्मिक आधार	
	* अभिप्रेरण : मनोवैज्ञानिक अवधारणा	
	* संघर्ष : मनोवैज्ञानिक अवधारणा	
	* संघर्ष समाधान में जीवन-विज्ञान की भूमिका	
इकाई-५	<b>व्यक्तित्व विकास : मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार</b>	७९-९५
	* व्यक्तित्व विकास का मनोवैज्ञानिक आधार	
	* व्यक्तित्व विकास का आध्यात्मिक आधार	
	* कर्म बन्धन के कारण	
	* कर्मशुद्धि एवं व्यक्तित्व विकास	
	* प्राण का स्वरूप	
	* समाधि का स्वरूप	